शीराज़ा
हिन्दी

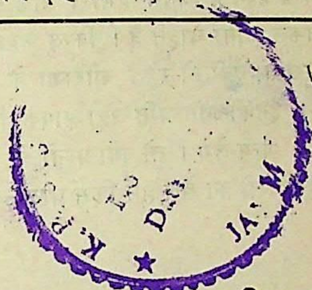


मूल्य: दो रुपये

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, जम्मू

द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

वर्ष : २०   अक्तूबर-नवम्बर १९८४   अंक : ४



अपनी बात

•

यह महज़ संयोग नहीं है कि आज लेखक की जरूरत और प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न जड़े जाने लगे हैं। साहित्य को लेकर चिन्ता का एक पूरा माहौल तैयार हो रहा है। एक ओर आलोचना को लेकर बहस की जाती है तो दूसरी ओर पाठकों के अभाव का रोना रोया जाता है। ऐसे में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह जो इतने लोग लगातार कलम घिस रहे हैं तो किसलिए? क्यों साहित्य को हथियार के रूप में इस्तेमाल करने की बातें की जाती हैं और प्रकाशन तंत्र का शिकार होने को लेखक सहज ही आतुर रहता है? इधर साहित्य की उपयोगिता को उपभोक्ता संस्कृति के निकषों पर कसते हुए मांग और पूर्ति के नियमों के अंतर्गत इसका मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। एक छोर ऐसा भी है जहां प्रबुद्ध पाठकों और लेखकों को साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का अभाव खल रहा है। २१वीं शताब्दी के प्रवेश द्वार पर खड़ी मानव जाति के लिए तकनीकी माध्यमों के आक्रमण का सामना करते हुए साहित्य को पूरी सहृदयता से अपनाना भारी क्यों हो रहा है? क्या साहित्य को अपने औज़ार बदलने होंगे?—यदि ऐसा हुआ तो क्या साहित्य में शब्द की भूमिका पूर्ववत प्रभावी और कारगर प्रमाणित हो सकेगी? साहित्य, जो भाषा का व्यापार है, भाषा के बिना जिंदा रह सकेगा? क्या वर्तमान काल में जिस भाषा से हमारा सामना है उसमें हम कुछ नया जोड़ रहे हैं...या हम मात्र अनुकरण करते जा रहे हैं? हमारा लेखन जिस तेज़ी से गांव की मिट्टी से कटता जा रहा है उसके चलते क्या आंचलिक साहित्य का कोई मोल रह जाता है? अंधाधुंध शहरीकरण और सिनेमाई प्रभाव के चलते हमारे लोक-संस्कार हमें कहां तक शरण देने में समर्थ

हैं ? क्या हम लोक साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए चीज़ों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने की मानसिकता अर्जित कर सके हैं ? लोकगीतों का प्राणतत्त्व उनका गेय होना होता है' हमारी कविता में से रागात्मकता कहां गुम होती जा रही है ? क्या छन्दों का बन्धन हमने 'मुक्ति' के लिए तोड़ा था या 'अराजकता' के लिए ? जिस भाषा से सहज प्रवाह की हम वकालत करते रहे हैं क्या वैसी भाषा आज हमें उपलब्ध है ?··· प्रश्न ! प्रश्न !! प्रश्न !!!

ये वे प्रश्न हैं जिनसे हमारा रोज़ सामना होता है और हम जिनसे कतरा कर निकल जाना चाहते हैं। किन्तु कहीं ऐसा करते हुए हम अपनी जिम्मेदारी से विमुख तो नहीं हो रहे ? **शीराज़ा** के प्रस्तुत अंक में यही प्रश्न आपसे टकरायेंगे। इनकी प्रतिध्वनि जहां आपके लिए उत्तर जुटाएगी वहीं इन उत्तरों से नये प्रश्न जन्म लेंगे। तो क्या प्रश्नों से टकराना ही हमारी नियति है ? देखें यह चूहे-बिल्ली का खेल हमें किस घाट उतारता है।

—रमेश मेहता

साहित्य : भविष्य से संवाद

□ देवेन्द्र इस्सर

आधुनिकता के बाद

पिछले कई वर्षों से साहित्य में आधुनिकता पर बड़ी बहसें होती रही हैं। और कुछ ऐसा महसूस होने लगा कि जो लेखक 'आधुनिक' नहीं, वह सिरे से लेखक ही नहीं। लेकिन आधुनिकता क्या है ? इस बारे में प्रत्येक लेखक का अपना मत है और सुविधानुसार वह आधुनिकता की कुछ ऐसी व्याख्या करता है जिसके कारण साहित्य के मूल्यांकन की कई गम्भीर समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

आधुनिकता अथवा आधुनिक बोध को परिभाषित करने के लिये समय-समय पर लेखकों ने प्रयत्न किये हैं लेकिन आधुनिकता के नाम पर जिन प्रवृत्तियों या तत्त्वों को प्रस्तुत किया जाता है उनमें किसी प्रकार की पूर्वनियोजित, निश्चित, स्थिर एवं अन्तिम परिभाषा के लिये कोई स्थान नहीं। ऐसा करना आधुनिकता के मूल तत्त्वों के ही विरुद्ध होगा। जिसे हम आधुनिकता कहते हैं, वह एक प्रक्रिया है।

आधुनिकता के तत्त्वों और प्रक्रिया को जीवंत और गतिशील बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी कोई संज्ञात्मक परिभाषा निर्धारित न की जाए बल्कि इसकी मानसिकता में गहरे उतरा जाये और इस विचार/रवैये को एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप में समझा जाये जो समय और स्थिति के अनुकूल अपने अर्थ को स्वयं ही निर्धारित एवं परिष्कृत करता रहे। यह भी सम्भव है कि जिन तत्त्वों को आधुनिकता का नाम दिया जाता है, वे परस्पर विरोधाभास को भी परिलक्षित करते हों।

आधुनिकता को समसामयिकता से अलग करके देखना आवश्यक है। जहां समसामयिकता का सम्बन्ध समय से है, वहां आधुनिकता का संवेदना और नये लहजे और रवैये से है। आधुनिकता का सम्बन्ध विवेचनात्मक और मूल्यगत तत्त्वों से है, न कि केवल वर्तमान समय की परिधि से।

जब कोई देश आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरेगा तो उसकी मूल परम्परागत संस्कृति में भी परिवर्तन आयेगा और एक प्रकार से सांस्कृतिक विनिमय के साथ-साथ विलय भी होगा। इसलिए इस प्रश्न पर भी गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है कि क्या भारतीयता और आधुनिकता को द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत करना सही है? हमें विज्ञान और धर्म के प्रवृत्तिमूलक अन्तर को समझने की जरूरत है। भारत में धर्म और पश्चिम में विज्ञान की महत्ता है। पश्चिम में आधुनिकीकरण और वैज्ञानिक दृष्टि का जो प्रसार हुआ है उसके कारण पाश्चात्य विचारधारा और आधुनिकता को समानार्थ ही समझा जाता है। लेकिन हमारे देश में आधुनिकता और भारतीय संस्कृति या दर्शन को एक-दूसरे से पृथक् देखने की कोशिश भी होती रही है।

यह संघर्ष और तनाव प्रत्येक नये विचार और चिन्तन में होता है। कुछ लेखक तो इस संघर्ष में प्रवर्तक के रूप में सामने आते हैं; कुछ अनुयायी बनकर ही रह जाते हैं और कुछ केवल अनुकरण ही करते हैं। ऐसी स्थिति में आधुनिकता की भ्रामक तस्वीर ही सामने आती है और आधुनिकता भी एक परम्परा बन जाती है जो प्रायः नयी वैचारिक क्रान्ति के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है और आधुनिक बोध 'सामूहिक' विचार में परिवर्तित हो जाता है जो आधुनिकता की मूल प्रवृत्ति के ही विरुद्ध है।

आधुनिकता पर एक साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में विचार करने और समकालीन परिदृश्य को आधुनिक दृष्टि से देखने के साथ-साथ भविष्य के संदर्भ में समझने की भी जरूरत है।

आधुनिकता अपने पूर्ववर्ती साहित्य पर एक प्रकार की विजय है। लेकिन वह स्वयं ही इस विजय को विफल भी बना देती है ताकि यात्रा अनवरत जारी रहे और अनदेखे आयामों की तलाश का जोखिम खत्म न होने पाये और हम भविष्य से सीधे साक्षात्कार कर सकें।

भविष्य से संवाद

बीसवीं सदी के अन्त में भविष्य से मनुष्य का ऐसा सामना होने जा रहा है जिसके आघात से उसका मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाने की आशंका है। कम्प्यूटर, इलेक्ट्रॉनिक्स, मास-मीडिया आदि के युग में मनुष्य की स्थिति क्या होगी? क्या उसकी अस्मिता और गरिमा, विचार-स्वातन्त्र्य और संकल्प-विकल्प की शक्ति सुरक्षित रह सकेगी? क्या उसकी बुद्धि और संवेदना परिवर्तन की इस प्रक्रिया को सहन करने में सक्षम होगी? या उसके नये और विलक्षण आयाम सामने आयेंगे। इन हालात में साहित्य की क्या दशा (और दिशा) होगी? पुस्तकों का भविष्य क्या होगा? साक्षरता शब्दों तक सीमित रहेगी या कम्प्यूटर रीडिंग में बदल जायेगी। साहित्य में फैले हुए अस्तित्ववादी चिन्तन और आधुनिकतावाद का क्या होगा? क्या व्यक्ति और व्यवस्था के बीच संघर्ष में उभरे विद्रोह का रूप या स्वर नहीं बदलेगा? प्रश्न! प्रश्न!! प्रश्न!!!

वर्तमान जीवन और समाज, यथार्थ और कल्पना, विचार और संवेदना जिस प्रकार मनुष्य की परिकल्पना को बदल रहे हैं साहित्य के आइने में उसकी कौन-सी तस्वीर उभर कर सामने आयेगी।

लेकिन साहित्य परिवर्तन की इस प्रक्रिया की अभिव्यक्ति का एक रूप है। आज मनुष्य अभिव्यक्ति के लिये न केवल नये-नये प्रयोग कर रहा है बल्कि नये-नये माध्यमों और उपकरणों

को भी उपयोग में ला रहा है। आज का लेखन समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, दर्शन, संस्कृति, विज्ञान और टैक्नॉलाजी की परस्पर अन्तःप्रक्रिया से गुजर रहा है। सम्प्रेषण का प्रत्येक पहलू, हर अभिव्यक्ति और विभिन्न विधायें आज के मनुष्य का सीधा साक्षात्कार भविष्य से करा रही हैं। भविष्य अब न दुःस्वप्न है और न ही युटोपिया और न ही मात्र कल्पना। वह हमारी वर्तमान चेतना का जीवन्त अंग बन चुका है। भविष्य हमारी कर्मेन्द्रियों के दायरे से बाहर हो सकता है ज्ञानेन्द्रियों और संवेदना की पहुंच से परे नहीं।

भविष्य से हमारा सम्पर्क स्थापित हो चुका है। प्रश्न अब सीधे संवाद का है···

भविष्य जिसका केन्द्र-बिन्दु टेक्नॉलाजी है।

यह कहना कि लेखक तो कल्पना से सृजन करता है; हम कल्पना के साहित्य की बात कर रहे हैं न कि ज्ञान-विज्ञान के साहित्य की, निजी अनुभव की न कि बाह्य स्थिति की, इसलिए हमें इलेक्ट्रॉनिक्स से क्या लेना-देना, मानव-चेतना और संवेदना को जड़ बनाना है। यह ऐसे ही है जैसा कि कुछ लेखक यह कहते हैं कि वे दूसरों की रचनाएं इसलिये नहीं पढ़ते कि उनकी मौलिकता नष्ट हो जायेगी। मेरा संवाद ऐसे महान लेखकों और जीनियस से नहीं बल्कि उनसे है जो अनुभव और ज्ञान के दायरे को गहन और विस्तृत करना चाहते हैं और समझते हैं कि प्रत्येक नया ज्ञान, नया तथ्य, नयी सूचना, आविष्कार या अन्वेषण या शोध-अनुसन्धान कल्पना और संवेदना की अभिव्यक्ति को गहन और बहुआयामी बनाता है। यदि हम अपनी ही बन्द दुनिया में रहना चाहते हैं तो साहित्य के पाठकों की संख्या जो पहले ही कम है और भी कम हो जायेगी। क्योंकि नया पाठक बदलती हुई दुनिया को समझने के लिये दूसरे माध्यमों की ओर आकर्षित होगा। हम चाहते हैं कि वह इस प्रक्रिया में साहित्य को पूर्णतया नकार न दे। और ऐसा न हो कि लेखक के पाठक भी लेखक ही रह जायें।

यथार्थ का साहित्य

यह प्रश्न क्यों उत्पन्न हुआ ?

गत कुछ वर्षों में लोगों की रुचि पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तकें पढ़ने में बढ़ी है। लेकिन 'साहित्य' पढ़ने में उनकी रुचि बढ़ी हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रतीत यह होता है कि जो 'साहित्य' की रचना करते हैं वही उसके पाठक भी हैं। पूर्ण रूप से शायद वे भी नहीं। और जो हैं भी उनमें अधिकतर केवल 'साहित्य' ही पढ़ते हैं।

कथा-साहित्य के सामान्य पाठकों की अपेक्षा गैर कथा-साहित्य के पाठकों की संख्या अधिक बढ़ी है। क्या यह प्रश्न नयी पत्रकारिता से सम्बद्ध है? विशेष रूप से खोजपूर्ण पत्रकारिता से जिसे नयी पत्रकारिता की संज्ञा दी गयी है? क्या खोजपूर्ण पत्रकारिता कथा-साहित्य में वर्णित यथार्थ से कहीं आगे तो नहीं निकली जा रही है? अपनी रोचकता, समसामयिकता, प्रामाणिकता, प्रासंगिकता, गम्भीरता, व्यापकता, गहनता और अन्तरदृष्टि में।

ये हैं कई प्रश्न जो कथा-साहित्य की उपयोगिता और प्रासंगिकता को चुनौती दे रहे हैं। यही कारण है कि कई बार 'साहित्य' के भविष्य के बारे में भी चिन्ता प्रगट की गई है। उपन्यास की मृत्यु की घोषणा भी हो गई है और कहा गया है कि वर्ष २००० का उपन्यास सिलोलाइड पर लिखा जायेगा। जनसम्प्रेषण के माध्यमों की 'पैशाचिक' शक्ति को भी कोसा गया है। लेकिन नई पत्रकारिता—डाकुमेन्टरी नेरेटिव—ने जो चुनौती दी है वह कथा-साहित्य के भविष्य के बारे में वास्तव में चिन्ता जगाती है। इस विषय पर बहुत से

लेख और पुस्तकें आदि प्रकाशित हो चुकी हैं। इन पुस्तकों का सारांश यह है कि समाज में ही इतिहास 'लिखा' जा रहा है – समाज में ही सब कुछ वास्तव में घटित हो रहा है। नये कथा-साहित्य की अपेक्षा नयी पत्रकारिता इसे अधिक प्रभावकारी रूप से प्रस्तुत करने में समर्थ हुई है क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध वास्तविक जगत से है। जबकि कथा-साहित्य में प्रस्तुत सामाजिक यथार्थ ऐसा दिखाई देता है कि वह सतही और निजी तौर पर संकुचित है। हमारे इर्दगिर्द समस्यायें ही समस्यायें हैं। जो निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। जटिल होती जा रही हैं। समाधान से दूर होती जा रही हैं। रहस्यात्मक होती जा रही हैं। कथा-साहित्य का रचना-विधान ऐसा होता है कि वह इनकी गति, प्रयोगशीलता और समस्यामूलक मानसिकता से मेल नहीं खाता।

जॉन टामसन ने "ओ हेनरी प्राइज स्टोरीज (१९६१) की समीक्षा करते हुए लिखा है— "मैं सोचता हूं कहानियां कौन पढ़ता है? जब आप कोई पत्रिका उठाते हैं तो क्या आप कहानी का पृष्ठ पलटते हैं? वैसे भी कहानी उस पत्रिका में क्या कर रही है? वह उतनी ही नीरस लगती है जितनी कि कविता। सम्भवतः वह नीरस है भी। हो सकता है कि यदि आप स्वयं कहानियां लिखते हों तो आप उस पर एक सरसरी दृष्टि डालेंगे यह देखने के लिये कि कहीं कोई आप से आगे तो नहीं निकल रहा या वह किस का अनुकरण कर रहा है · हमारे साहित्य की प्रत्येक विधा निरन्तर सीधे ब्यान की ओर बढ़ रही है—आत्मकथा, स्वीकारोक्ति, निबन्ध के फार्म की ओर।"

मेरे सामने भी यह प्रश्न कई बार आया है। क्या मैं किसी कहानी का अध्ययन सौन्दर्य वोध के लिये करता हूं? क्या मैं कहानी इसलिये पढ़ता हूं कि मेरे ज्ञान में वृद्धि हो? जिस युग में हम जी रहे हैं उसमें सूचना-समाचार-वृत्तान्त की कोई कमी नहीं। बल्कि किसी हद तक 'इन्फार्मेशन ऐक्सप्लोज़न' है। मास-मीडिया हर प्रकार के ज्ञान, विज्ञान, टेक्नॉलाजी, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, राजनीति, नये आविष्कारों/अनुसन्धानों, शोध कार्यों और तथ्यों को मनुष्य तक प्रिंट और दृश्य और श्रव्य साधनों द्वारा पहुंचाने में समर्थ हुआ है। मानव मस्तिष्क की प्रत्येक प्रक्रिया, यौन-व्यापार, व्यक्तित्व के विभिन्न आयाम, चेतन, अर्धचेतन और अवचेतन सामाजिक पृष्ठभूमि, संवेदना, चिन्तन, कर्म और व्यवहार, विवशता और विकल्प, गरज कि जीवन के हर पहलू का ज्ञान दूसरे शास्त्रों से सीधे प्राप्त किया जा सकता है। फिर कथा-साहित्य का हमारे जीवन में क्या महत्त्व रह गया है? क्या अब यह प्रश्न केवल रूप और शैली तक नहीं सीमित रह गया है या इसका कुछ और भीतरी रहस्य भी है?

आज पाठक को कैसा लेखन ('साहित्य' के पर्यायवाची के रूप में नहीं बल्कि जो भी लिखा जा रहा है) चाहिये? वह चाहता है जिसमें तात्कालिकता हो, जो प्रासंगिक हो, जिसमें वह स्वयं शामिल हो सके। बिल्कुल वहां से उठाया जाये जहां सब कुछ घटित हो रहा है—भागल-पुर से, तिहाड़ जेल से, आदिवासी क्षेत्र से, कमला की कहानी के रूप में, मेरी टेलर की 'जेल के दिन' के रूप में, वाटरगेट डायरी के रूप में, असम की ट्रेजिक गाथा के रूप में।···इसलिये कथा-साहित्य किसी समय—आज से दस-बीस वर्ष पूर्व—महत्त्वपूर्ण रहा भी हो : अब नहीं।

घटनायें जिस तेज़ी से घटित हो रही हैं और सड़कें और सत्ता जितनी बेरहम होती जा रही हैं, कथा-साहित्य उसका साथ देने में असमर्थ है और जब वह उसका विषय बनेंगी तो वे इतिहास का पन्ना बन चुकी होंगी। कथा-साहित्य का यह युग नहीं। यह युग है ग़ैर-कथा साहित्य का—नान-फिक्शन उपन्यास का, एण्टी नावेल का, मेटाफ़िक्शन का, डाक्युमेण्टरी नैरेटिव का, साइंस फ़िक्शन का···

हम अभी तक यह भ्रम पाले हुये हैं कि लेखक ही सृजक है। वह ही बौद्धिक जगत का केन्द्र है। यह इसी भ्रम का परिणाम है कि हमारा अध्ययन और लेखन बौद्धिकता के व्यापक जगत में पीछे छूटता जा रहा है। यदि आज कथा-साहित्य के जीवित रहने की कोई आशा है तो वह उसके 'सामाजिक यथार्थ' में नहीं बल्कि यथार्थ की परिकल्पना में है। जिसे Fabulation या Fabalous Fiction या Faction का नाम दिया गया है। कथा-साहित्य को यथार्थ का चित्रण नहीं यथार्थ का मॉडल प्रस्तुत करना होगा। कथा-साहित्य की सफलता यथार्थ की तफ़सील प्रस्तुत करने में नहीं उसकी पुनर्रचना में होगी। यथार्थ को रिकार्ड करने या उसे **फ्रीज** करने में नहीं उसको भविष्य में प्रविष्ट करने में है। जिस यथार्थ की पुनर्रचना की जा रही है वह जीवन का अनुकरण नहीं बल्कि उसकी नई अवधारणा है। शेल्ज़ के शब्द हैं :

"यथार्थ को रिकार्ड नहीं किया जा सकता। यथार्थवाद मर चुका है। लेखन; समस्त शब्द-संयोजन पुनर्रचना है। हम यथार्थ का दूसरा पहलू प्रस्तुत करते हैं। कोई अनुकरण नहीं केवल परिकल्पना, रिकार्डिग नहीं, पुनर्रचना।"

आज कथा-साहित्य के सामने यह प्रश्न है कि वह उसमें यथार्थ और कल्पना, संवेदना और बोध, जीवन और दर्शन, अनुभूति और अनुभव, शिल्प और विषय, कथानक और टैक्सचर, भावना और प्रतीक, देश और काल पात्र और दृश्य, सौन्दर्य और दृष्टि के अतिरिक्त गति, रंग, रूप और गंध और मूल्य किस प्रकार एक सम्पूर्ण पैटर्न में ढलकर रोजमर्रा जीवन के वस्तुगत यथार्थ और इन्द्रियजनित यथार्थ से आगे निकलकर पराचेतना का आभास देता है। ऐसा 'कथा-साहित्य' परम्परागत फ़िक्शन नहीं होगा और न ही नयी पत्रकारिता की नान-फ़िक्शन बल्कि मेरा फ़िक्शन होगा। जिसे केवल साहित्यकार ही नहीं सामान्य पाठक भी पढ़ेंगे।

लेकिन फिर भी···

जब एक अमरीकन लेखक से पूछा गया कि क्या साहित्य का कोई भविष्य है तो उसने उत्तर दिया कि मैं ऐसे संसार की कल्पना भी नहीं कर सकता जिसमें शब्द मनुष्य को प्रेरित न करें और लोग कथा-कहानी कहना बन्द कर दें। उसने कहा : मैं अब सोचता हूं कि हम सब कथा-साहित्य के बारे में अपनी शिकायतों में ठीक थे। लेकिन इसके विकल्प के बारे में ग़लत थे। ट्रिलिंग समाज-शास्त्र के बारे में ग़लत था। हम कैसे ज़िन्दगी बसर करते हैं, इसके बारे में अधिक से अधिक जानकारी देने की बजाय समाज-शास्त्र हमें कम-से-कम ज्ञान ही उपलब्ध करा रहा है, जिसके अधिक भाग से हम पहले से ही परिचित हैं, मैं पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले लेखों के बारे में ग़लत था। बजाय इसके कि वे हमारे युग के आचार-व्यवहार के बारे में व्यापक और गहन तौर पर खोजपूर्ण सामग्री दें वे राजनैतिक आन्दोलनों और नैतिक उद्घोषणों को ही और ज्यादा प्रस्तुत कर रहे हैं जो सम्पादकीय और उपदेश के निम्न स्तर के ही परिचायक हैं, और वुल्फ—पत्रकारिता के बारे में ग़लत है। 'नयी पत्रकारिता' अहंवादी होती जा रही है। यह लोग आत्म-प्रचार और अपने को दूसरे लोगों से बेहतर सिद्ध करने में अधिक रुचि रखते हैं।

गत पचास वर्षों में यथार्थवाद का स्थान आधुनिकता ने ले लिया है। और फिर अस्तित्ववाद ने। अब आधुनिकता और अस्तित्ववाद की प्रवृत्तियां भी क्षीण हो गयी हैं। और एक बार फिर नये चिन्तन की तलाश शुरू हो गयी है जिससे हम साहित्य को अपने जीवन का अंग बना सकें—उसकी समस्त समृद्ध और विशिष्ट बहु-आयामी दुनिया के साथ—**दुनिया**

जैसा कि वह है और जैसा कि हम चाहते हैं वह हो। मेरा विश्वास है कि कल्पनाशील साहित्य एक बार फिर इस आकांक्षा को पूरा कर सकेगा। साहित्य का इतिहास इसी ओर संकेत करता है। साहित्य के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं।

साहित्य का भविष्य है—क्योंकि साहित्य के बग़ैर भविष्य की कल्पना नहीं की जा सकती। मैं यह नहीं समझता कि लेखन और अध्ययन भविष्य में इस संसार से लुप्त हो जायेंगे और पुस्तकें किसी संग्रहालय में प्राचीन अवशेष के रूप में रखी जायेंगी। पुस्तकें लुप्त नहीं होंगी। ये मनुष्य के सांस्कृतिक विकास और विरासत का अभिन्न अंग हैं। "यदि पुस्तकें लुप्त हों तो इतिहास भी नष्ट हो जायेगा और उसके साथ ही मनुष्य का अस्तित्व भी।"

□

समकालीन परिदृश्य और साहित्य की मुमकिन भूमिका

□ डॉ० धनंजय वर्मा

दोस्तो ! अपनी बात एक कहानी से शुरू करूंगा। कहानी बहुत पहले पढ़ी थी। अपने सन्दर्भ और प्रसंग के अनुसार मैंने उसका स्वच्छन्द रूपान्तर कर लिया है। कहानी है :

एक गहरे अंधेरे कुएं में मेंढकों का एक समाज रहता था। एक मोटा मेंढक उनका राजा था। सारे मेंढकों की मेहनत पर उसका एकछत्र अधिकार था। अपनी हालत को ही अपनी नियति मानकर वे चुपचाप उसके शोषण और अत्याचार को सहते जी रहे थे।‥काफी समय बाद उनकी ज़िन्दगी में एक वाक़या हुआ। एक परिन्दा उस कुएं की जगत पर आकर बैठने लगा। वह आता और अपनी यात्रा के दौरान देखे गये सूरज और चांद, आकाश चूमते पहाड़ों, हरी-भरी वादियों, उन्मुक्त हवाओं और क्षितिज तक फैले समन्दरों के गीत गाता। मोटे मेंढक की समझ में कुछ भी न आता। लेकिन उसने अपने समर्थकों के जरिए यह प्रचारित करवाया कि यह परिन्दा उस स्वर्ग की बात कर रहा है जो तुम्हें इस ज़िदगी की कड़ी मेहनत के बाद मिलेगा। इस ज़िदगी में तुम्हें जो मिला है, तुम उसी के लायक हो। मेंढक उसके इस विलक्षण तर्क को समझ तो न पाते लेकिन फिर ईश्वरीय नियम और न्याय की दुहाई देते हुए सब कुछ सहते रहे।…यों दिन बीतते गये।…और फिर उनमें एक जागरूक और संवेदनशील मेंढक पैदा हुआ। अपने हालात के साथ ही उसने परिन्दे और उसके गीतों की एक नयी व्याख्या की। उसने समझाया कि यह परिन्दा हमसे कह रहा है कि यदि हम लोग तय कर लें तो हम अपने इस संसार को कितना खूबसूरत बना सकते हैं। इसके सूरज-चांद का मतलब है : रोशनी, जो हमारे अंधेरे को भगा देगी, इसके खुले आकाश का मतलब है—इस सीलन और बदबूदार धुएं को हवादार खुले माहौल में बदलना, उन्मुक्त हवाओं का मतलब है—बंधनविहीन स्वच्छन्द जीवन और क्षितिज तक फैले समन्दरों का मतलब है—वह स्वतंत्रता जो इस मोटे मेंढक को हमेशा के लिए उखाड़ फेंकने पर हमें मिलेगी।…धीरे-धीरे उसकी व्याख्याओं से प्रेरित होकर मेहनतकश मेंढक एकजुट होते गए और जब क्रान्ति हुई तब अपनी मुक्ति-सेना के झण्डे पर उस परिन्दे के चित्र को अंकित कर मेंढकों ने मुक्ति-गीत गाते हुए उस मोटे मेंढक का तख़्ता पलट दिया। अंधेरे, सीलन और बदबू से भरे कुएं में रोशनी हुई, बाहर की हवायें

आईं और मेंढकों को अपनी ज़िंदगी में एक नई बहार का अनुभव हुआ। ऐसी कि उस जागरूक मेंढक ने भी कल्पना नहीं की थी।

लेकिन अजीब बात! परिन्दे ने आना, जगत पर बैठना, सूरज और चांद, खुले आसमान, उन्मुक्त हवाओं, हरी-भरी वादियों, क्षितिज तक फैले समन्दरों के गीत गाना न छोड़ा। नये-नये बने मेंढक राज्य के सूत्रधारों ने सोचा·· यह परिन्दा ज़रूर पागल है। अब इन गीतों की हमें क्या ज़रूरत है। इन फन्तासियों की अब कौन-सी सामाजिक प्रासंगिकता है। अरे, अब तो हमें जो चाहिए था, उसे हमने पा लिया है। ज़रूर यह परिन्दा पागल है।···और सारे मेंढकों ने परिन्दे को पकड़ा। उसमें भुस भर दिया और अपने नये बने अजायबघर में एक निहायत सम्मान की जगह टांग दिया।

एक लेखक हैं अदामोव। उन्होंने एक बार बड़ी तकलीफ से अपने-आप से पूछा था: ''एक लेखक होने का विचार क्या खुद एक बेमौके का मज़ाक नहीं है। इस सभ्यता में क्या लेखक फिर कभी एक जीवित और मानवीय मुहावरा पा सकेगा।'' माहौल पर गुजर गये सायों की संरचना बदल गयी है लेकिन शब्द की निरर्थकता का अहसास फिर-फिर कर घना हो जाता है। कोई किसी की नहीं सुनता। जब कुछ भी किए कुछ नहीं हो रहा है तब शब्द को ही कौन पूछता है। शब्द के प्रति एक सार्वजनिक उदासीनता क्या लगातार बढ़ती हुई नजर नहीं आती। क्या शब्द का कोई राजनीतिक और सामाजिक असर महसूस किया जा रहा है? नहीं···मौन कहीं नहीं है! शोर है, इतना कि कान के पर्दे तक फटे जा रहे हैं। सारी आवाजें घुल-मिल गयी हैं। कितना अजब है यह शोर! आर्केस्ट्रा के हर साज़ से एक ही आवाज निकल रही है। बांसुरी से बिगुल और सारंगी से भी बिगुल की ही आवाज़। सितार और वीणा भी नगाड़े की तरह पीटे जा रहे हैं। और उस पर सितम यह कि अब पिपहरी भी रणभेरी की तर्ज़ पर बज रही है। मार्चिंग सांग की धुन पर लगातार मार्क टाइम! एक समूह में सबके सब अब जुझारू राग गाने लगे हैं: शब्दों को चबाते हुए, जबड़ों के बीच उनकी जुगाली करते हुए। हमारे समकालीन माहौल में एक जीवित और मानवीय मुहावरे की उम्मीद, ज़रूरत और तलाश क्या महज़ 'अंधेरे में चीख' होकर रह जायेगी? ··

आज किसी भी हस्सास लेखक के सामने यही एक सवाल उभरकर आता है: ''एक लेखक होने का विचार क्या खुद एक बेमौके का मज़ाक नहीं है।'' लेखन की ज़रूरत ही क्या है? क्या प्रासंगिकता रह गयी है उसकी? ''कविता अपरिहार्य है,'' ज्यां काक्त्यू ने कहा था, लेकिन काश, हम यह भी तय कर पाते कि क्यों? चित्रकार मान्ड्रियन ने कला के सम्भावित लोप की बात भी की थी। उसका भरोसा था कि यथार्थ लगातार कला को हटाता जाएगा, कि ज़िंदगी में जैसे-जैसे संतुलन आता जाएगा, कला गायब होती जाएगी। तो क्या आधुनिक जीवन में संतुलन आता जा रहा है?···जन माध्यमों के इतने सारे साधनों और उनके उतने अधिक विकास के बाद अब कला और साहित्य की किसे फ़िक्र है? कविता लिखने वालों के अलावा उसे कितने लोग पढ़ते हैं और कितने खुद कविता लिखने वाले हैं जो अपने अलावा दूसरों की कविता पढ़ते हैं? हमारे रोज़मर्रा सामाजिक जीवन में उसकी जगह क्या है? वह हमारी ज़रूरतों में कहां शामिल है? समकालीन सन्दर्भों में उसका क्या उपयोग है? उसे आप खा नहीं सकते, पी नहीं सकते, न उसे ओढ़ सकते हैं और न बिछा ही सकते हैं···

लेकिन फिर भी कुएं की जगत पर एक परिन्दा है जो बार-बार आता है। सूरज और चांद, आकाश चूमते पहाड़ों, हरी-भरी वादियों, उन्मुक्त हवाओं और क्षितिज तक फैले समन्दरों के गीत लगातार गाता है। बाज़ वक्त उसे पागल करार दिया जाता है या उसका इस्तेमाल किया जाता है और बाज़ वक्त उसे पकड़कर, उसमें भुस भरकर अजायबघर में टांग दिया जाता है।

दोस्तो! किसी भी संवेदनशील रचनाकार के लिए माहौल बेहद तनाव और अन्तर्विरोधों से भरा है और द्वन्द्वात्मक विकास की शर्त ही इन तनावों और अन्तर्विरोधों में इजाफ़ा है। फिर रचना में तनाव और द्वन्द्वात्मक अन्तर्विरोध तो अन्तर्निहित होते ही हैं। ये किस युग के सार्थक साहित्य में नहीं रहे? बात महज इतनी है कि हमारे मौजूदा वक्त में वह प्रखर और किसी हद तक निर्णायक भी हो गये हैं।

रचना के संसार में इस आदिम और लगातार द्वन्द्व और अन्तर्विरोध से बचा ही कैसे जा सकता है? पहले का कवि-रचनाकार इस द्वन्द्वात्मक प्रकृति और संसार को देखता और भोगता हुआ भी शायद द्वन्द्व के पार के उस संश्लेष बिन्दु पर अपने महज प्रातिभ ज्ञान, रचनात्मक अनुभूति या मानसिक और बौद्धिक अन्तरदृष्टि से पहुंच जाता था, आधुनिक मनुष्य शायद उससे महरूम हो गया-सा लगता है। नयी चेतना के आघात और आलोक में उस संश्लेष बिन्दु की पहचान खो गयी-सी लगती है और सारी आस्थाएं उसे आज आरोपित नजर आती हैं। पहले द्वन्द्व की स्थिति और प्रकृति भी शायद सरल और साफ थी। सत्य और असत्य में धर्म और अधर्म में, अंधेरे और उजाले में, मृत्यु और अमरत्व में पहचान साफ और तय हो सकती होगी और सीधे-सीधे पक्ष लेकर एक द्वन्द्वातीत आनन्द में समाधि लगाई जा सकती होगी। लेकिन आज द्वन्द्व की प्रकृति जितनी जटिल हो गयी है, उतनी ही मारक और निर्णायक भी। उजाले के हर बिन्दु पर अंधेरे के साये मंडरा रहे हैं और झूठ के रेशमी ग़िलाफ में सजा-संवारकर पेश किया गया सचाई का हर दावा आखिरकार खोटा साबित हो रहा है।

कवि और रचनाकार का सरोकार और शायद नियति भी, इस द्वन्द्व, तनाव और अन्तर्विरोध के बीच जीने, रचने और उनके पार जाने की है। समकालीन साहित्य में प्रासंगिक और सामयिकता का सरोकार इतना केन्द्रीय हो गया है कि शायद उसीके कारण सामयिक यथार्थ के साथ उसका रिश्ता भी सीधा, सपाट और इकहरा हो गया है जबकि वक्त की जटिल अन्तर्क्रियाओं और उसकी वयस्क समझ का तकाजा है कि ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ के बीच और पार उस मानवीय क्षण और सरोकार को तरजीह दी जाय जो सामयिक तकाजों में कहीं खोता जा रहा है। समकालीन स्थितियों में एक रचनात्मक विवेक और परिप्रेक्ष्य की पहचान ही इस द्वन्द्व, तनाव और अन्तर्विरोध के बीच और पार, उस मनुष्य का साक्षात्कार कर सकती है, उसे शक्ल दे सकती है, उसकी पहचान बढ़ा सकती है जो सारी कला और सांस्कृतिक चेष्टाओं की आदिम उत्तेजना रही है। समकालीन नहीं, किसी भी साहित्य की प्रासंगिकता और सार्थकता इसी से तय की जानी चाहिए कि उसमें यह मानवीय सरोकार और उत्तेजना किस हद तक मौजूद है और उसमें से उभरते आदमी की शक्लो-सूरत क्या और कैसी है? या कि रचना का प्रतिसंसार कितना प्रामाणिक और मानवीय है?

जहां यह सरोकार गायब होता है और वक्ती तकाज़ों को महज उबलते-उफनते शब्दों से सजा संवार दिया जाता है, वहां साहित्य समकालीन होने का भरम पालता और देता ज़रूर

है, होता नहीं है। हमारे वक्त का बहुत सारा साहित्य शब्दों की आंधी और सैलाब में आदमी की शक्ल धुंधली और किसी हद तक गायब करने वाला क्यों लगता है ? समकालीन यथार्थ की तपिश और शिद्दत शब्दों की गिरफ़्त से छूटती क्यों नजर आती है ? ज़ाहिर है कि वे सचाई का ऐसा कोई पारदर्शी पर्याय पेश नहीं कर पा रहे हैं जिससे यथार्थ और उसका अनुभव और संवेदना संवादी हो सके। संवेदना, विचार, और कर्म के वयस्क इलाकों के लिए अब वे प्रासंगिक नहीं लगते। शब्दों की दुनिया लगातार सिकुड़ती जा रही है। इस संसार में से एक सार्थक प्रतिसंसार रचने की उनकी ताकत कम होती महसूस हो रही है। माहौल में उड़ते-बिखरते तिनकों की मानिन्द, हमारे वक़्त का अधिकांश साहित्य शब्दों को महज उठा और इस्तेमाल कर रहा है, उनकी तलाश और उपलब्धि के साक्ष्य उसमें से गायब लगते हैं। शब्द जो घिसे और खोटे सिक्कों की मान्निद अपनी खनक खो बैठे हैं। हमारे वक़्त की हहराती, उफनती ज़िन्दगी के आन्तरिक भावात्मक उद्वेलनों से कटे हुए, वे जूठे, अपरिभाषित और पिटी-पिटायी अभिव्यक्ति में जड़ीभूत हो गये हैं। पारदर्शी होने की बजाय वे हमारे और हमारी दुनिया के बीच एक धुंधले या रंगीन कांच की दीवार खड़ी करते हैं। आग से गरमी और रोशनी पाने या देने की बजाय लगता है; लोग अपने हाथ और कभी-कभी तो खुद को ही अदबदा कर उसमें झांकते नज़र आ रहे हैं। वह मानवीय स्वर, सरोकार और ऊष्मा समकालीन साहित्य के ज्यादातर हिस्से से गायब हो गयी-सी लगी है जो रचना को एक कालातीत संवाद बनाती है। शब्दों की चीख और शोर, सड़कों और गलियों के शोर और चीख को धूल और धुंध के बादलों में ढांप रहे हैं।

इस माहौल में भी हमारे वक़्त का जो भी सार्थक साहित्य है, वह समकालीन होता हुआ भी उस समग्र और व्यापक तनाव, द्वन्द्व और अन्तर्विरोध का गवाह और भागीदार भी है और जहां-जहां, जिस-जिस स्तर पर वह उनके बीच और पार मानवीयता के स्वरों को केन्द्रित करता है, वहीं अपनी रचनात्मकता चरितार्थ करता है। इसीलिए समकालीनता की चेतना ही काफी नहीं है, उस प्ररिप्रेक्ष्य की पहचान भी जरूरी है जिसमें वह चीजों को देखती, समझती और रूपान्तरित करती है और मानवीय शक्ल देती है। यही वह अन्तर्निहित मानवीय स्वर है जिससे रचना इस दुनिया को ऊपरी, बाहरी और भौतिक मायनों में बदल तो शायद नहीं सकती, लेकिन उसे बदलने की ज़रूरत के अहसास को जीनेवालों की बिरादरी बढ़ा ज़रूर सकती है। सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन के मौके और ज़रूरत के सन्दर्भ में साहित्य की यही मुमकिन भूमिका हो सकती है। यह ज़रूरी सिर्फ इसलिए है कि आदमी इसके जरिए इस दुनिया और खुद को पहचान सके और मुमकिन हो तो बदल सके। शोर में खो गये शब्द की अपनी रचनात्मकता की तलाश और मानवीयता के आयामों की रचना ही समकालीन माहौल में साहित्य की प्रासंगिकता हो सकती है। इससे अधिक का दावा न तो किया जा सकता है, और न किया जाना चाहिए। एक मानवीय और रचनात्मक प्रतिसंसार की रचना के माध्यम से संवाद और प्रतिवाद किया जा सकता है, उससे अलग शक्ल अख्तियार करना, रचना की अपनी दुनिया से बाहर जाने का ख़तरा मोल लेना है। और बकौल जार्ज स्टाइनर "व्हेन द वर्ड्स इन द सिटी आर फुल आव सेवेजरी एण्ड लाईज/नथिंग स्पीक्स लाउडर देन द अनरिटन पोएम ···"

उस अनलिखी कविता की हैसियत और ताकत, उस परिन्दे के गीतों की ही मानिन्द है जो कुंओं की जगत पर बार-बार आकर बैठता है, सूरज और चांद, आकाश चूमते पहाड़ों, हरी भरी वादियों, उन्मुक्त हवाओं और क्षितिज तक फैले समन्दरों के गीत गाता है। □

'शुद्धता' का अस्वीकार : 'रेणु' की कहानियां

□ हरिकृष्ण कौल

ठुमरी-धर्मा कहानियां

फणीश्वर नाथ रेणु ने अपने प्रथम कहानी-संग्रह का नाम ठुमरी रखा है, यद्यपि उसमें ठुमरी नाम की कोई कहानी नहीं है। शब्दकोशों के अनुसार ठुमरी एक चलता गाना है जिसमें कई रागों का मिश्रण हो। यह कई हल्के रागों और तरह-तरह की धुनों में गाई जाती है। रेणु की कहानियों में अनेक कथाओं, उपकथाओं, परिकथाओं, उपाख्यानों, मिथकों, विविध प्रसंगों, नाना प्रकार के अप्रासंगिक विवरणों का ही नहीं, रूप, रस, गंध, और नाद का भी मिश्रण मिलता है। इसलिए रेणु ने इन्हें 'ठुमरी धर्मा कहानियां' और डॉ० नामवर सिंह ने 'मिश्रित शिल्प की कहानियां' कहा है। ठुमरी कभी 'शुद्ध' नहीं हो सकती। चाहे कथा-साहित्य हो या संगीत-साधना, जो 'विशुद्ध' ठुमरी गाने की कुचेष्टा करेगा, उसकी नियति गीताली की बहन मीताली की खंडित कला-साधना से भिन्न नहीं हो सकती। जो कथाकार अपने कथ्य को 'शुद्धता' की मुट्ठी में कसने की कोशिश करेगा, उसकी कहानी का सारा कथा-रस निचुड़कर कसी मुट्ठी की उंगलियों से बह जायगा और शेष केवल छूंछ रह जायगा। कहानी ही नहीं, कोई भी साहित्यिक विधा या कला शुद्ध नहीं हो सकती। विभिन्न साहित्य-रूपों और कलाओं में परस्पर विनिमय होता रहा है और होना ही चाहिए जैसा कि डॉ० नामवर सिंह ने कहा है, इस विनिमय से बेशक वे लोग परेशान होंगे जिनके लिए हर विधा एक ईश्वर प्रदत्त (?) चौखटा है। इस 'शुद्धता' को अस्वीकार करने के कारण ही रेणु की कहानियों में स्ट्रक्चर के स्तर पर रिपोर्ताज, रेखा चित्र, ध्वनि रूपक, फिल्म दृश्य-लेख, पुराण कथा, लोक कथा, लोक वार्ता गपबाज़ी आदि का, तथा टेक्स्चर के स्तर पर रूप, रस, नाद और गंध का मिश्रण मिलता है। रेणु 'तीसरी कसम' के हिरामन की तरह ही 'गप रसाने का भेद जानता है।' उनकी लोक-रस से ओत-प्रोत कहानियां चुस्त-दुरुस्त कहानियों की तरह किसी 'पैटर्न' का निर्माण करने की अपेक्षा एक 'रिद्म' (लय) का सृजन करती हैं। और जैसा कि ई० एम० फॉस्टर का मत है, कला की दृष्टि से 'रिद्म' 'पैटर्न' से ऊंची उपलब्धि है।

फणीश्वर नाथ रेणु ने उपन्यास और कहानियां ही नहीं, रिपोर्ताज़ भी लिखे हैं। बिहार के सूखे और बाढ़ तथा नेपाल की सशस्त्र क्रान्ति के विषय में उनके रिपोर्ताज उनके मरणोपरान्त

'ऋण जल : धनजल' तथा 'नेपाली क्रान्ति कथा' के नाम से पुस्तकाकार छपे हैं। रेणु ने कुछ कहानियों में भी रिपोर्ताज की शैली को अपनाया है। 'ठुमरी' संग्रह की 'तीर्थोदक' तथा 'आदिम रात्रि की महक' संग्रह की 'पुरानी कहानी : नया पाठ' और 'ना जाने केहि वेष में' कहानियां एक प्रकार से रिपोर्ताज ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि इनके पात्र और स्थितियां वास्तविक न होकर काल्पनिक हैं। या कौन कह सकता है कि ये स्थितियां और पात्र वास्तविक नहीं ? रेणु के विषय में उनकी पत्नी श्रीमती लतिका का ही नहीं, अन्य लोगों का भी कहना है कि वे कहानी, उपन्यास में वास्तविक व्यक्तियों को ही, कहीं नाम बदल कर और कहीं बिना नाम बदले, कथाबद्ध करते थे।[1] दूसरी ओर रेणु के जिन रिपोर्ताजों के विषय में साधारणत: यह माना जाता है कि वे सच्ची घटनाओं पर आधारित हैं. उनके विषय में भी कुछ लोगों ने आवाज उठाई है, वे वास्तविक घटनाओं का 'आंखों देखा हाल' न होकर मात्र काल्पनिक रिपोर्टिंग है।[2]

'पुरानी कहानी : नया पाठ' में रेणु ने प्रभावोत्पादकता बढ़ाने के लिए कथा-शिल्प में रेडियो और फिल्म टेकनीक का भी समावेश किया है। बाढ़ के कारण बस्ती में पानी भर आया है। लोगों ने घरों की छतों पर आश्रय लिया है। उनमें खलबली मची है सभी अपनी जान बचाना चाहते हैं। कोई अभागा छप्पर पर अपने को न संभाल पाने के कारण नीचे पानी में गिर पड़ता है। लोग रो रहे हैं। विलाप कर रहे हैं। छप्पर पर जगह पाने के लिए एक-दूसरे से झगड़ रहे हैं। बाढ़ के पानी में कभी किसी पशु की लाश बहकर आती है तो कभी कोई सांप नज़र आता है। उधर कोसी की यह विनाश-लीला देखकर निरुपाय असहाय लोग झांझ मृदंग बजाकर कोसी मैया का वंदना गीत गाते हैं और मृदंग की ताल पर ही गांव का एक मात्र 'पढ़ुआ पागल' जन कवि नागार्जुन की कविता की आवृत्ति कर रहा है, ''ताता थैया, ताता थैया, नाचो नाचो कोसी मैया !''—इस सारे हंगामे को मानो रेणु ने 'रिकार्ड' किया है और कहानी के निम्नलिखित अनुच्छेद में वे बिना कोई टीका टिप्पणी किए जैसे इस 'रिकार्ड' को 'प्ले बैक' करते हैं—

''माय गे—ए—ए—ए—बाबा हो—ओ—ओ—दुहा—ई—ई—संभल के—ले-ले गिरा-गिरा—छप्पर पर चढ़ जा—ए सुगनी रे रमललवा आ आ-दीदी—ई—ई—हाय-हाय—माय-गे—बाबा—हो ओ—ओ—ओ—हे इस्सर महादेव—ले-ले गया—गया—डूबा—डूबा—आंगन में छाती भर पानी—यह छप्पर कमजोर है—यहां—नहीं—जहां जगह नहीं—हे हे ले ले गिरा—भैंस का बच्चा बहा रे—ए—ए—ए डोमन—ए डोमन—सांप-सांप—जै गौरा पारबती—रस्सी कहां है—हंसिया दे—बाप रे बाप—ता-ता थैया—ता ता थैया, नाचो नाचो कोसी मैया—छम—कट छम...!''

इस अनुच्छेद में यदि सारे दृश्य को ध्वनिबद्ध किया गया है तो अगले अनुच्छेद में स्थिति से ध्वनि को पृथक करके उसका केवल चाक्षुष (विज्युअल) रूप प्रस्तुत किया किया गया है। देखिए—

---

१. लतिका रेणु, 'अब वह मरीज़ कभी दरवाजा खटखटाने नहीं आयेगा' (प्रो० राम बझावन सिंह तथा डॉ० रामवचन राय द्वारा सम्पादित 'रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि' पटना—१९७८ में संकलित, पृ० १४२)

२. ''लगभग दो साल पूर्व जब पटना की भयंकर बाढ़ पर रेणु की मर्मस्पर्शी रिपोर्ट 'आंखों देखा हाल' की तरह कई किस्तों में प्रकाशित हुई तो कुछ लोगों का कहना था कि उस बाढ़ के समय रेणु अपने गांव औहारी हिंगना में थे, पटना में नहीं।''—कुमार विमल का लेख 'रेणु की याद में' (मासिक 'नया प्रतीक' मार्च १९७२ अंक, पृ० ३)

"भोर के मटमैले प्रकाश में ताड़ की फुनगी पर बैठे हुए वृद्ध गिद्ध ने देखा – दूर, बहुत दूर तक गेरुआ पानी पानी पानी ! बीच-बीच में टापुओं जैसे गांव-घर, घरों और पेड़ों पर बैठे हुए लोग। वह वहां एक भैंस की लाश। डूबे हुए पाट और मकई के पौधों की फुनगियों के उस पार··

राजगिद्ध पांखें तोलता है—उड़ान भरता है, हहास···!"

पूर्वगामी अनुच्छेद में जहां रेडियो टेकनीक का उपयोग किया गया है वहां इस अनुच्छेद में पूरी तरह से फिल्म टेकनीक का आभास मिलता है। सबसे पहले मानो ताड़ की फुनगी पर बैठे हुए गिद्ध का 'क्लोज अप' दिया गया है। फिर जैसे कैमरा 'जूम आउट' करता है और 'लांग शॉट' में दूर दूर तक फैला पानी ही पानी नजर आता है। ('पानी शब्द की आवृत्ति विचारणीय है।) इसके बाद मानो कैमरा 'जूम इन' करके धीरे-धीरे 'पैन' करता है और पानी के बीच टापुओं जैसे गांव घर, घरों और पेड़ों पर बैठे हुए लोग, डूबे हुए पाट और मकई के पौधों की फुनगियां, उनके पार भैंस की लाश, एक के बाद एक नज़र आते हैं। तब जैसे 'शॉट' बदलता है। फिर उसी गिद्ध का 'क्लोज अप'। गिद्ध उड़ान भरता है और कैमरा जैसे उसे 'फॉलो' करता है। दृश्य जगत् के प्रति रेणु की इस प्रकार की संवेदनशीलता देखते हुए नागार्जुन के एक अन्य संदर्भ में कहे गये ये शब्द बहुत ही सही मालूम होते हैं कि रेणु यदि "कलकत्ता जैसे महानगर में पैदा हुआ होता और यदि वैसा ही सांस्कृतिक परिवेश, तकनीकी उपलब्धियों का वही माहौल इस विलक्षण व्यक्ति को हासिल हुआ होता तो अनूठी कथा-कृतियों के रचयिता होने के साथ-साथ सत्यजितराय की तरह फिल्म निर्माण की दिशा में भी यह व्यक्ति अपना कीर्तिमान स्थापित कर दिखाता।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियां मिश्रित शिल्प की कहानियां हैं। इनमें अन्य साहित्यिक विधाओं की शैलियों का ही नहीं, रेडियो और फिल्म टेकनीक का भी सहारा लिया गया है। परन्तु रेणु के इस मिश्रित शिल्प में जो बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और ध्यानाकर्षक है, वह है कथा और गीत का मिश्रण। 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम', 'विघटन के क्षण', आदि कहानियों का प्रभाव कथा और गीत का मिला-जुला प्रभाव है। कथा में गीत का समावेश करने के लिए रेणु को कहानी का परम्परागत ढांचा तोड़ना पड़ा है। कथा वर्णन की प्रचलित लीक छोड़नी पड़ी है। 'तीसरी कसम' के हिरामन की तरह स्वयं रेणु को भी यह एहसास है कि प्रचलित लीक अर्थात् "चालू रास्ते में कैसे गीत गा सकता है कोई ?"

कहानियों का टेक्स्चर : बिम्ब, नाद, गंध

कथा-शिल्प में संरचना या रूप गठन (स्ट्रक्चर) का ही नहीं, कहानी के शब्द-गठन (टेक्स्चर) का भी महत्त्व है। रेणु ने जहां बहुत से प्रसंगों और उपाख्यानों को जोड़कर कहानियों की संरचना खड़ी की है, वहां विविध प्रकार के बिम्बों, शब्द-चित्रों, ध्वनि-चित्रों, मिथकों आदि से उनका टेक्स्चर बुना है। अपनी कहानियों की सघन बुनावट में उन्होंने नाना प्रकार के रूप, रस, गंध, नाद, सुर, ताल, मुद्रा आदि का उपयोग किया है। उनकी प्रतिभा सबसे अधिक उनके द्वारा प्रयुक्त श्रव्य-बिम्बों या ध्वनि-चित्रों में झलकती है। रेणु की कहानियों के नाद तत्त्व अर्थात् उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ श्रव्य बिम्बों की परीक्षा यहां अप्रासंगिक नहीं होगी।

'सिर पंचमी का सगुन' कहानी में कालू कमार अपने देनदार गृहस्थों का फाल गर्म कर

के हथौड़े से 'ठां-ठां-ठां - ठुन्न-ठां ठुन्न।' करके पीटता है और फिर जब उसे कठौते में डालता है तो 'छूं छूं छूं ऊं गुर्डर-र्र !' की आवाज में गर्म फाल पानी में छनछना उठता है। कालू ने सिंघाय के जिस फाल को जानबूझकर टेढ़ा किया था उसे गर्म करके रेलवे का जवान मिस्त्री अपने वज़नदार हथौड़े से 'ठनांग-ठनांग-ठनांग' करके सीधा करता है। इसी कहानी में आगे चलकर जवान मिस्त्री के ललकारने पर सिंघाव अपनी सारी हिम्मत बटोरकर हथौड़ा चलाता है तो उसके तीन वार ठीक और चौथा वार गलत पड़ता है—''ए-ठांय ! ए ठांय ! ए ठांय। ए-ठ-र्र-क्।'' और जवान मिस्त्री के हाथ से संडसी-सहित लोहा छूटकर छिटक जाता है और दाहिना पैर बाल-बाल बचता है। 'कस्बे की लड़की' कहानी में जब रिक्शा वाले उतराई में पैंडिल चलाना बंद कर देते हैं तो बहुत देर तक 'फ्री ह्वील' की करकराहट होती रहती है—''क्रिरि-रि-रि रि रि···'' जिससे सरोज की सारी देह में गुदगुदी लगती है। 'हाथ का जस और बाक का सत्त' में वक्ता गाड़ीवान के मुंह से सुनता है कि जग्गू पंसारी ने बुढ़ापे में एक जवान 'तड़तड़' पहाड़िन को घर में बैठा लिया है। 'तड़ तड़' का कोई अर्थ हो या न हो, इसकी ध्वनि से ही पहाड़िन के मांसल और कसे हुए अंगों से फूटने वाली जवानी मूर्तिमान हो जाती है। रेणु ध्वनि ही नहीं, सुर के विषय में भी काफी संवेदनशील और सचेत हैं। 'हाथ का जस ··' में ही वक्ता कुसुमलाल गाड़ीवान से पूछता है कि क्या जग्गू पंसारी जिन्दा है तो रेणु के शब्दों में ''कुसुमलाल ने सुर खींचकर एक शब्द में जवाब दिया —'है-ए-ए-ए !' जिसका अर्थ हुआ—हां किसी तरह जी रहा है।'' 'तबे एकला चलो रे' में भैंस बथान में पाड़े को न पाकर हुंकरती डिकरती उसे पुकारती है—'पाड़ कहां आं आं।'' और पलाती में बंधा पाड़ा जवाब देता है — 'मैं यहां आं आं !' 'एक आदिम रात्रि की महक' में करमा रेलवे के अनेक बाबुओं की नाक से सोते समय निकलने वाले सुर को इन शब्दों में याद करता है — ''बाबू की नाक ठीक बबुआनी आवाज में ही 'डाकती' है।—पैंटमान जी तो लगता है, लकड़ी चीर रहे हैं।···गोपाल बाबू की नाक बीन जैसी बजती थी— सुर में !— असगर बाबू का खर्राटा — सिंघजी फफकारते थे और साहू बाबू नींद में बोलते थे—'ए, डाउन दो, गाड़ी छोड़ा···!''

रेणु की कहानियों में नाद के साथ-साथ गंध के प्रति भी अति संवेदनशीलता लक्षित होती है। 'तीन बिंदियां' कहानी में गीताली को मिस्त्री हाराधन यन्त्रकार सलाह देता है—''गीतों में गंध का परिवेशन कर सको, ऐसी साधना करो।'' रेणु ने स्वयं ऐसी साधना की थी। वे अपने कथा-गीतों में गंध का समावेश करने में समर्थ हुए थे। वे प्रायः हर प्रकार की गंध के प्रति जागरूक हैं, चाहे वह पहली वर्षा में भीगी हुई धरती के हरे-भरे पौधों से निकलने वाली खास किस्म की गंध हो ('रसप्रिया') अथवा बुझते हुए लोहे की लोहाइन गंध ('सिर पंचमी का सगुन') बाघ के शरीर से निकलने वाली ('बघाइन') गंध हो या गाड़ी में रह-रहकर महक उठने वाले चम्पा के फूल की खुशबू हो ('तीसरी कसम')। कस्बे की लकड़ी के शरीर में लगे सस्ते और चालू पाउडर तथा बालों में पड़े आयुर्वेदिक तेल की गंध (कस्बे की लकड़ी) अथवा नये मकान में चूने और वार्निश की गंध (एक आदिम रात्रि की महक)। एक मुस्लिम परिवार में भुने हुए प्याज की बू (जलवा) या हवा में नववधुओं की सूखती लहराती लाल, गुलाबी, पीली चुनरियों की मादक गंध (पुरानी कहानी : नया पाठ)। कई दिन बंद पड़े कमरे से निकलने वाली 'गुमी हुई' गंध या पीतल की चमचमाती हुई थाली में भात डालते समय भाप की महक (आत्म-साक्षी)। कहां-कहीं तो रेणु की यह गंध-चेतना बहुत ही सूक्ष्म रूप में हमारे सामने आती है। 'एक आदिम रात्रि की महक' का करमा—जिसे जन्म के कुछ घण्टे बाद ही मालगाड़ी के डिब्बे में 'बिना

बिलटी रसीद' के 'लावारिस माल' के रूप में पाया गया था, जिसकी जवानी रेल गाड़ियों में रिलीफिया बाबुओं के साथ भटकते बीती है—जब अपने बेसहारा भटकते जीवन से कुछ क्षण चुराकर स्टेशन के पास के एक गांव में प्रवेश करता है तो 'गांव की पहली गंध का पहला झोंका' उसके लिए एक अभूतपूर्व अनुभूति बन जाता है। 'संवदिया' कहानी का हरगोबिन संवदिया अपने कार्य में इतना दक्ष है कि वह वातावरण को सूंघकर ही संवाद का अन्दाजा लगाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रेणु का कथा-जगत् नाना ध्वनियों, सुरों, गीतों से निनादित ही नहीं, भांति भांति की गंधों से महकता भी है। वास्तव में रेणु ने अपनी कथा-स्थितियों को बहु आयामी मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न किया है। इसके लिए इन्होंने यथासम्भव सभी कलाओं के समस्त उपकरणों तथा ऐन्द्रियबोध के विभिन्न स्रोतों का सहारा लिया है। नाद, सुर, गंध ही नहीं, उन्होंने जैसे अभिनय कला से भी मुद्राएं और मूर्च्छना (माड्यूलेशन ऑफ वाइस) लेकर अपनी कहानियों का टेक्स्चर बुना है। वे यात्री की भंगिमाओं और मुखमुद्रा का सूक्ष्म विवरण देते हैं। 'तीर्थोदक' कहानी में "विष्णु की बोली, मंजन के झाग से भरे हुए मुंह में गुड़गुड़ाई। मुंह ऊंचा करके उसने कहा—मैं उ-उ-वा। फिर ओसारे के बगल में झाग उगलकर बोला—दूसरे से कर्ज लेकर तुम्हारी चीज ला दी है। रुपया देती जाओ। आज ही मनीआर्डर से भेज दूंगा। दूसरे का रुपया ··" इसी कहानी का एक और पात्र खंखड़ ओझा जानता है कि कौन-सी मुखमुद्रा शिष्टाचार हेतु कही गई उसकी बात को रद्द करके उसके अभीष्ट अर्थ का संकेत दे सकती है। पण्डाइन चाहती है कि यात्रियों में जितनी स्त्रियां हैं, वे ऊपर बराण्डे पर आयें। जाहिरी तौर पर उसकी बात का समर्थन करते हुए भी दांत निपोरकर लल्लू की मां को पण्डाइन की चालाकी के प्रति सावधान करता है। देखिए यह प्रसंग—

"खंखड़ ने लल्लू की मां की ओर दांत निपोरकर देखते हुए, धीरे से कहा—जैसी मर्जी आप लोगों की। सबके साथ नीचे रहिए, यह भी अच्छा। चाहे नवोजनि ऊपर जाइए, यह भी अच्छा।

दिन का समय होता तो आंख की कनखी से लल्लू की मां को सचेत कर देता—ऊपर नहीं। किन्तु रात को धुआंकस लालटेन की रोशनी में वह दांत निपोरने के सिवा और क्या करे?"

'ठेस' कहानी में ग्राम शिल्पी सिरचन जब अपने काम में मगन होता है, तो एक कुशल अभिनेता की तरह ही 'उसकी जीभ जरा बाहर निकल आती है, होंठ पर।' 'उच्चाटन' कहानी में बिलसवा या रामबिलास 'डरामा' और 'एक्टिंग' के 'जार्गन' में ही बोलता-सोचता है। दो साल के बाद घर लौटने पर उसने मन में निश्चय किया था कि वह साहूकार बूढ़े मिसर को खरी-खरी सुनाएगा। किन्तु सुबह-सुबह ही मिसर की आवाज़ सुनकर उसका निश्चय डगमगा जाता है। बिलसवा "डरामा में परदा उठने पर अचानक पार्ट भूल गया, मानो।" आखिर वह साहस बटोरकर मिसर से दो-एक तेज बातें कह ही डालता है। उसका अनुमान था कि उसकी तेज बात सुनकर मिसर की क्रोधाग्नि भड़क उठेगी। किन्तु ऐसा नहीं होता। मिसर उल्टा नरम पड़ जाता है। बिलसवा को लगता है कि "मिसर 'पाट' छोड़कर 'बेपाट' की बात बतियाने लगा।" फिर उसे एक पुराना प्रसंग याद आता है - "पिछले साल, महेन्द्र पुर—मोहल्ला दुर्गा पूजा के 'डरामा' में जुगल महतो पनवाड़ी ने इसी तरह खेल चौपट किया था। जल्लाद का 'पाट' लेकर उतरा और तलवार उठाकर मारते समय रटा हुआ 'पाठ' ही भूल गया और बेबात की बात बोलते-बोलते तलवार फेंककर रोने लगा।···मिसर भी रोता है क्या?

नहीं, नाक पोंछ रहा है।"

इस सारी चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रेणु की कहानियां 'शुद्ध' नहीं, मिश्रित शिल्प की कहानियां हैं। इनमें अन्य साहित्यिक विधाओं तथा रेखा चित्र, रिपोर्ताज, गीत आदि का ही मिश्रण नहीं, साहित्येत्तर कलाओं जैसे फिल्म, रेडियो, संगीत, अभिनय आदि की टेकनीक का भी समावेश मिलता है। इस दृष्टि से रेणु संसार के उन महान साहित्य-शिल्पियों में से एक हैं जिन्होंने, एच० पी० एच० टीसिंग के शब्दों में, अपनी कला की सीमाओं का अतिक्रमण करके उसकी अन्य कलाओं के साथ सहजीविता की आवश्यकता अनुभव की है।

मिथक और मोटीफ

'मिथक' अंग्रेज़ी के 'मिथ' शब्द के आधार पर बनाया गया एक पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग कई अर्थों में होता है। अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र (पोयटिक्स) में 'मिथ' का प्रयोग कथानक या कथात्मक संरचना के लिए किया है और 'लोगॉस' (ज्ञान) का व्यवहार इस के विलोम या प्रतिबिन्दु के रूप में किया है। मिथ का सम्बन्ध कथन या वर्णन से है, चिन्तन या दर्शन से नहीं। इसकी विशेषता इसकी तर्कहीनता और अनायासता में निहित है जो इसे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र से पृथक् करती है। आधुनिक साहित्य समीक्षा में भी 'मिथक' शब्द का प्रचलन पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है और यह धर्म, लोकवार्ता, नृविज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविश्लेषण, ललित कला आदि की साझेदारी में एक व्यापक अर्थक्षेत्र की ओर संकेत करता है। सत्रहवीं और अठारहवीं शती में 'मिथक' से बुरे अर्थ का ही द्योतन होता था—एक अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक कल्पित कथा, एक मिथ्या आख्यान। किन्तु अब इस शब्द के विषय में यह धारणा बदल गयी है। आज मिथक को काव्य की ही भांति वैज्ञानिक और ऐतिहासिक सत्य का प्रतिद्वंद्वी नहीं, उसका पूरक माना जाता है। आधुनिक काल में प्रतिरूपात्मक और तर्कसंगत कथा-संसार को रचने वाले लेखक भी इन मिथकों का उपयोग अपनी कृतियों की संरचना और शब्द-रचना दोनों में करते हैं। कहीं ये मिथक लेखक को एक बना बनाया पैटर्न उपलब्ध करते हैं और वह अपनी रचना शक्ति का प्रयोग इस पैटर्न को विस्तृत चित्रांकन द्वारा, उभारने में ही करता है। कहीं ये मिथक वर्तमान स्थितियों का उनके आद्य-प्रारूपों (आर्किटाइप्स) से जोड़ते हैं और कहीं किसी खंडगत अनुभव को व्यापक अनुभव का अंग बनाते हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु ने अपनी कहानियों का कथ्य ही नहीं, कथ्य की अभिव्यक्ति के उपकरण भी लोक जीवन से लिए हैं। कथ्य की सशक्त और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने कहानियों में लोककथाओं और मिथकों का भी उपयोग किया है। रेणु के कथालोक और इस वास्तविक लोक के मध्य सम्बन्ध राबर्ट शोल्ज़ और राबर्ट केलाग के शब्दों में, समाजशास्त्रीय प्रति-रूपात्मक (Sociological representational) है। अर्थात् उन्होंने इस लोक की यथार्थ स्थितियों को ही उनके सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रूपायित करने का प्रयत्न किया है। ऐसी कथा कृतियां अपनी प्रभावपूर्णता और नाटकीयता के बावजूद कभी-कभी एकायामी और सतही लगती हैं। कदाचित इसी खतरे से बचने के लिए रेणु ने 'दैनिक जीवन के रोचक प्रसंगों' में लोककथाओं और मिथकों का समावेश किया है और इन्हें गहराई और व्यापकता देने की कोशिश की है।

'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम' हिरामन और हीराबाई के परस्पर आकर्षण

और अलग होने की नियति की कहानी है। महुआ घटवारिन की अन्तर्कथा इनकी इस नियति को प्रतीकात्मक ढंग से रेखांकित करती है। कहानी के दोनों पात्र, हिरामन और हीराबाई, इस मिथक के दर्द को अपने भीतर अनुभव करते हैं। 'महुआ घटवारिन' गाते-गाते हिरामन भावुक हो उठता है—"उसको लगता है, वह खुद सौदागर का नौकर है। महुआ और कोई बात नहीं सुनती। परतीत करती नहीं। उलटकर देखती भी नहीं। और वह थक गया है तैरते तैरते !···" हीराबाई हिरामन की हो नहीं पाती। कम्पनी की औरत कम्पनी में चली जाती है। मगर जाते समय भरे गले से हिरामन से कहती है—"तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता ?···महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है, गुरुजी।" महुआ घटवारिन की कथा का दर्द आकर्षण में बंधे दो व्यक्तियों का ही दर्द नहीं, उसका एक सामाजिक संदर्भ भी है। सौदागर पूंजीवादी व्यवस्था के एकमात्र मूल्य उस धन का प्रतीक है जिसने प्रेम, सौंदर्य, भावना, त्याग, बलिदान आदि जीवन मूल्यों को रद्द किया है। कहानी में हिरामन द्वारा अपनी विशिष्ट शैली में वर्णित नामलंगर ड्योढ़ी का वृत्तान्त भी एक मिथक है। नामलंगर ड्योढ़ी के राजा के घर देवता ने जन्म लिया था, जिसे किसी ने नहीं पहचाना। 'देवता आखिर देवता है।' एक बार लाट साहब मय लाटनी के हवा गाड़ी से आये। लाट ने भी नहीं, पहचाना आखिर लाटनी ने। लेकिन फिर भी सभी ने बात हंसी में उड़ा दी। तब देवता का खेल शुरू हुआ। पहले दोनों दन्तार हाथी मरे, फिर घोड़ा, फिर 'पटपटांग' – अर्थात् धन दौलत, माल मवेशी सब साफ···

यह ऊटपटांग कथा सुनाते समय हिरामन की मनोदशा के वर्णन से इस मिथक के अर्थ का आभास सहज ही मिलता है · "हिरामन का मन पलपल में बदल रहा है, मन में सतरंगा छाता धीरे-धीरे खिल रहा है, उसको लगता है।···उसकी गाड़ी में देवकुल की औरत सवार है। देवता आखिर देवता है।" कहानी के अन्त में देवकुल की यह औरत, अर्थात् हीराबाई उसे छोड़कर चली जाती है तो उसके मन की सारी दौलत, सारा सुख चैन अपने साथ ले जाती है।

रेणु की कहानियों में हमें समाज में प्रचलित विख्यात और अविख्यात दोनों प्रकार के मिथक मिलते हैं। 'पुरानी कहानी : नया पाठ' में बाढ़ के रूप में "मुंह बाये, विशाल मगरमच्छ की पीठ पर सवार दसभुजा कोसीका नाचती, किलकती, अट्टहास करती आगे बढ़ रही है।" 'नैना जोगिन' में रतनी का नैना जोगिन के रूप में नामकरण भी एक मिथक के आधार पर ही हुआ है—"देहात में झाड़-फूंक करने वाले ओझा गुणियों के हर 'मंतर' के अन्तिम आखर में बंधन लगाते हुए कहा जाता है—दुहाए इस्सर महादेव गौरा पारबती, नैना जोगिन ·· इत्यादि। लगता है कोई नैना जोगिन नाम की भैरवी ने इन मन्त्रों को सिद्ध किया था।" सचमुच रतनी की गालियां किसी भैरवी द्वारा सिद्ध किए गए मन्त्रों से कम पैनी या मारक नहीं हैं।

रेणु के उपन्यास-कहानियों में अनेक गांवों या घाटों के नाम किसी-न-किसी नये-पुराने मिथक के साथ जुड़े होते हैं। 'हाथ का जस और बाक् का सत्त' में भी पीलिया रोग और उसका इलाज करने वाले बैद के कारण ही नवटोली गांव का नाम 'हल्दिया गांव' पड़ा।

फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियों में मिलने वाले मिथकों के साथ-साथ उनके 'मोटीफ़' (अभिप्राय) का अध्ययन भी उन्हें समझने में सहायक हो सकता है। किसी कृति का अथवा किसी कृतिकार की अनेक कृतियों का प्रमुख या आवर्तक भाव अथवा विषय ही 'मोटीफ़'

कहलाता है। रेणु की कहानियों में कुछ बिम्ब, दृश्य, प्रसंग या विषय बार-बार आते हैं, जैसे मेला, नाच, रेल, रेल यात्रा आदि। मेला फणीश्वरनाथ रेणु का एक प्रिय मोटीफ़ है। उन्होंने अधिकतर ग्रामीण जीवन की कहानियां लिखी हैं और मेला ग्रामीण समाज की एक महत्त्वपूर्ण संस्था या प्रथा है। मेला एक संस्था ही नहीं, यह अस्थिर और अन्यथा एकरस जीवन की गहमागहमी और रंगीनी का भी प्रतीक है। 'तीसरी कसम' में हिरामन और हीराबाई का मिलन मेले में ही होता है और हीराबाई के चले जाने के बाद ही यह मेला वाच्यार्थ और प्रतीकार्थ दोनों दृष्टियों से टूटता है।। 'रसप्रिया' में रमपतिया के साथ विश्वासघात करने के काफी समय बाद पंचकौड़ी मिरदंगिया की उस अबला के साथ गुलाब बाग मेले में अचानक मुलाकात हो जाती है। पर मेला हर साल लगता है, गया समय बार-बार नहीं लौटता है। पंचकौड़ी निरुपाय और जिन्दगी के मेले में अकेला रहने के लिए विवश है। 'लाल पान की बेगम' में बिरजू की मां के पल-पल बदलते और परस्पर विरोधी मनोभावों के मूल में बलरामपुर मेले का नाच ही है।

रेणु की कहानियों में रेल और रेल-यात्रा का मोटीफ भी मिलता है। यात्रा जीवन की निश्चलता और लक्ष्यहीनता में गति और लक्ष्य का आभास देती है। रेणु के अनेक पात्रों के मन में रेलगाड़ी में बैठकर तीर्थयात्रा की चाह बड़ी बलवती नजर आती है। 'तीर्थोदक' में लल्लू की मां पति-पुत्रों, घर-गृहस्थी का नेह छोड़कर इसी यात्रा के लिए रवाना हो जाती है। 'तीसरी कसम' के चालीस साल के हट्टे-कट्टे देहाती गाड़ीवान ने अपने मन से सभी इच्छाओं को, यहां तक कि शादी-ब्याह की इच्छा को भी, बलपूर्वक बाहर निकाल फेंका है। परन्तु इस यात्रा की इच्छा को वह निकाल नहीं सका है। हीराबाई के चले जाने पर जब उसके लिए सारा संसार सूना हो जाता है तो यही एक इच्छा उसके जीने का अवलम्ब बनती है—"रेलवे लाइन की बगल से बैलगाड़ी की कच्ची सड़क गई है दूर तक। हिरामन कभी रेल पर नहीं चढ़ा है। उसके मन में फिर पुरानी लालसा झांकी, रेलगाड़ी पर सवार होकर गीत गाते हुए जगरनाथ धाम जाने की लालसा…।" 'ना जाने केहि वेष में' की सारी कथा रेलगाड़ी में ही घटती है और एक रेलयात्री के विषय में ही वक्ता को भैरवसिंह 'भौंरा' जैसे अद्भुत साहित्य-सेवी के दर्शन होते हैं। रेलगाड़ी, रेलवे स्टेशन और रेलवे कर्मचारियों का ज़िक्र रेणु की कहानियों में बार-बार मिलता है। 'एक आदिम रात्रि की महक' का करमा भी, कहानी के अन्त में, चलती गाड़ी से कूदकर जीवन में कहीं जम जाना चाहता है। यहां रेलगाड़ी किसी लक्ष्य का नहीं, जीवन की लक्ष्यहीनता और भटकन का प्रतीक बन जाती है। रेणु की कहानियों में रेल उस औद्योगिक व्यवस्था का भी प्रतीक है जो देहात की सामन्ती समाज-व्यवस्था को धीरे-धीरे स्थानापन्न कर रही है। 'सिरपंचमी का सगुन' में गांव के लुहार कालू कमार द्वारा टेढ़े किए गये फाल को रेलवे का मिस्त्री एक-दो चोटों से ही सीधा करके प्रचलित लोकोक्ति के स्थान पर एक नयी उक्ति "सौ चोट लुहार की तो एक चोट सरकार की" की सार्थकता को रेखांकित करता है।

रेणु की कहानियों में एक सुकुमार, सुदर्शना, सुशीला नारी का भी मोटीफ मिलता है जो कहीं 'तीर्थोदक' की अन्नपूर्णा, कहीं 'ठेस' की मानू, कहीं 'विघटन के क्षण' की विजया दी, तो कहीं 'संवदिया' की बड़ी बहू के रूप में पाठकों के सामने बार-बार आती है। 'जलवा' की फ़ातिमा तथा 'तीसरी कसम' की हीराबाई भी ऐसी ही नारियां हैं। रेणु की कहानियों में बार-बार आने वाली यह नारी शरत् की नारी की प्रतिमूर्ति है जो स्वयं बहुत कुछ सहने के बावजूद

दूसरों को प्यार और ममता बांटती है। दूसरी ओर एक अकेला अभागा पुरुष भी रेणु का प्रिय मोटीफ है जो कहीं 'रसप्रिया' के पंचकौड़ी मिरदंगिया, कहीं 'ठेस' के सिरचन, कहीं 'तीसरी कसम' के हिरामन तो कहीं 'एक आदिम रात्रि की महक' के करमा के रूप में हमारे सामने आता है। इन त्यागमयी/ममतामयी नारियों तथा अकेले अभागे पुरुषों के योग से रेणु ने कुछ ऐसी कथा-स्थितियों की सृष्टि की है जिनके कारण कहीं-कहीं उनकी यथार्थवादी दृष्टि रोमानियत के कुहासे से धुंधली हुई लगती है।

खेतों में चुगते अथवा तारों पर चहचहाते पक्षियों का चित्रण रेणु प्रायः बहुत ही आत्मीयता और लगाव के साथ करते हैं और उनकी चहक में जीवन की छोटी-छोटी खुशियों की अनुगूंज अनुभव करते हैं। परन्तु उनकी कहानियों में चील सदा ही एक अनिष्ट-सूचक मोटीफ के रूप में आती है। 'रसप्रिया' में जब पंचकौड़ी मिरदंगिया इस बात का मातम मनाता है कि "अब तो दोपहरी नीरस है, मानो किसी के पास एक शब्द भी न रह गया है" तो उसी समय "आसमान में चक्कर काटते हुए चील ने टिहंकारी भरी—टिं···ई टि ह क···" कहानी के एक अन्य स्थल पर मोहना जब पंचकौड़ी को पागल समझकर भाग खड़ा होता है तो "आसमान में उड़ती हुई चील ने फिर टिंहकारी भरी टिं हीं···ई·· टिं टिं ग !" 'विघटन के क्षण' कहानी में गांव उजड़ रहा है। सभी गांव छोड़कर शहर में जा बसना चाहते हैं और यहीं चील इस विघटनकारी शक्ति की प्रतीक बनकर आती है— "अचानक एक चील ने डैना फड़फड़ाया। सभी चिरैयां एक साथ भड़क कर उड़ीं।" यही चील 'एक आदिम रात्रि की महक' में अकेले करमा को पुकारती जाती है।

दृष्टि बिन्दु

दृष्टि बिन्दु की समस्या कथा-शिल्प की बुनियादी समस्या है। वक्ता और कथा के मध्य सम्बन्ध ही वह अधारशिला है जिस पर कथा की सारी संरचना खड़ी होती है। पर्सी लूबाक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द क्राफ़्ट आफ़ फ़िक्शन' में दृष्टि बिन्दु की समस्या को कथा शिल्प की केन्द्रीय समस्या मानकर इसकी विशद चर्चा की है। वक्ता कथा का वर्णन उसके बाहर या भीतर रहकर कर सकता है। और इन दोनों स्थितियों में वह अनेक प्रकार का दृष्टि बिन्दु अपनाकर अनेक कोणों से कथा को 'देख' सकता है। कथा-वर्णन की सर्वाधिक प्रचलित और परम्परागत परिपाटी वह है जब लेखक सर्वव्यापी सर्वज्ञ अन्य पुरुष का दृष्टि बिन्दु अपनाता है। ऐसी स्थिति में प्रायः लेखक स्वयं वक्ता होता है। वह न केवल पात्रों के बाहरी क्रिया-कलापों का, वरन् उनकी भीतरी आकांक्षाओं और उनके व्यवहार को परिचालित करने वाले गूढ़ प्रयोजनों का भी ज्ञाता होता है, तथा पाठकों को भी अपने इस ज्ञान का सहभागी बनाने को तत्पर होता है। कहीं वक्ता स्वयं कथा के बाहर रहकर भी किसी एक पात्र का दृष्टि बिन्दु अपनाता है। वह सारी कथा को केवल उसी पात्र की आंखों से देखता है और जिन क्षेत्रों में उस पात्र की पहुंच नहीं होती वहां वक्ता की भी पैठ नहीं होती। कहीं कोई एक पात्र ही वक्ता बनकर उत्तम पुरुष के दृष्टि बिन्दु से कथा का वर्णन कहानी के भीतर से ही करता है। यह उत्तम पुरुष वक्ता या कहानी का 'मैं' विश्वसनीय भी हो सकता है और अविश्वसनीय भी। दृष्टि बिन्दु के निर्वाह की और भी बहुत सी प्रविधियां हैं जिनका प्रयोग असंख्य कथाकारों ने अपनी असंख्य कृतियों में किया है। पर्सी लूबाक का आग्रह है कि कथाकृति में दृष्टि बिन्दु के

सिद्धान्त का निर्वाह कट्टरता से होना चाहिए। कथाकार कोई भी दृष्टि बिन्दु अपना सकता है परन्तु पूरी कृति में उसी का समान रूप से निर्वाह होना चाहिए। किन्तु जैसा कि ई० एम० फॉस्टर का मत है, डिकेन्स और टॉलस्टॉय जैसे महान लेखकों ने दृष्टि बिन्दु की बदली (शिफ्ट) से या उपरोक्त प्रविधियों में अनेक के मिश्रण से अपनी कृतियों को अधिक रोचकता और गहराई प्रदान की है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक सर्वज्ञ सर्वव्यापी अन्य पुरुष के दृष्टि बिन्दु से कथावर्णन, कहानी कहने की परम्परागत और एक प्रकार से स्वाभाविक पद्धति है। रेणु ने अधिकांश कहानियों में मोटे तौर पर इसी पद्धति को अपनाया है। 'रसप्रिया' 'तीसरी कसम अर्थात मारे गए गुलफाम', 'लाल पान की बेगम', 'कस्बे की लड़की', 'टेबुल' 'एक आदिम रात्रि की महक' आदि कहानियों का वक्ता कथा के बाहर से ही उसका वर्णन करता है। दूसरी ओर लेखक की कई कहानियों में कोई पात्र ही वक्ता बनकर तथा उत्तम पुरुष का दृष्टि बिन्दु अपनाकर कथा के भीतर से ही कथा का वर्णन करता है। 'तबे एकला चलो रे', 'जलवा', 'अतिथि सत्कार', 'ना जाने केहि वेष में', 'अगिनखोर', 'रेखाएं : वृत्त चक्र' आदि ऐसी ही कहानियां हैं। अन्य पुरुष का दृष्टि बिन्दु कथाकार को बहुत सारे बन्धनों से मुक्त करता है और वह पात्रों और कथा स्थिति के बारे में कुछ भी कह सकता है। वह पात्रों के व्यवहार का ही नहीं, उनके मनोभावों का भी वर्णन कर सकता है तथा उन पर अपनी ओर से टीका-टिप्पणी भी कर सकता है। दूसरी ओर उत्तम पुरुष का दृष्टि बिन्दु लेखक पर अंकुश रखकर उसके व्यक्ति-चालन को सीमित कर देता है। फिर भी यह पद्धति कथा की नाटकीयता और वस्तु-परकता में वृद्धि करती है। दृष्टि बिन्दु के निर्वाह की और भी बहुत-सी पद्धतियां हैं और प्रत्येक की अपनी सम्भावनाएं और सीमाएं हैं। रेणु ने इन विभिन्न पद्धतियों की सम्भावनाओं का एक साथ उपयोग करने हेतु कहीं-कहीं एक ही कहानी में दृष्टि बिन्दु को अनेक बार बदला है और कथा वर्णन की अनेक पद्धत्तियों को आपस में मिलाया है। इस दृष्टि से रेणु की कुछ कहानियों का अध्ययन उपयोगी हो सकता है।

'ठेस' कहानी का आरंभिक अनुच्छेद एक सर्वज्ञ अन्य पुरुष वक्ता के दृष्टि बिन्दु से लिखा गया लगता है। हम जानते हैं कि खेती बारी के समय गांव के किसान सिरचन को बेकार ही नहीं, बेगार समझते हैं। दूसरे अनुच्छेद में यह सर्वज्ञ वक्ता सिरचन के साथ एकाकार हो जाता है और एक अल्पज्ञ वक्ता बनकर उसी की आंखों से सारी स्थिति को देखता है—"···आज सिरचन को मुफ्तखोर, कामचोर या चटोर कह ले कोई। एक समय था, जबकि उसकी मड़ैया के पास बड़े-बड़े बाबू लोगों की सवारियां बंधी रहती थीं। उसे लोग पूछते ही नहीं थे, उसकी खुशामद भी करते थे।··· अरे, सिरचन भाई ! अब तो तुम्हारे ही हाथ में यह कारीगरी रह गई है सारे इलाके में।···" इत्यादि-इत्यादि। तीसरे अनुच्छेद में पाठक को फिर एक झटका लगता है। वह जान जाता है कि कथा का वास्तविक वक्ता कोई सर्वज्ञ या अल्पज्ञ अन्य पुरुष न होकर, कहानी का ही एक गौण पात्र, कानू का भाई है जो उत्तम पुरुष के दृष्टि बिन्दु से कथा कहता है—"मुझे याद है···मेरी मां जब कभी सिरचन को बुलाने के लिए कहती, मैं पहले ही पूछ लेता – भोग क्या-क्या लगेगा ?···"

'विघटन के क्षण' में सामान्यतः सर्वत्र अन्य पुरुष का दृष्टि बिन्दु अपनाया गया है परन्तु बीच-बीच में चुरमुनियां के सीमित दृष्टि बिन्दु के सहारे स्थिति के दर्द को गहरा बनाने का प्रयत्न किया गया है। 'एक आदिम रात्रि की महक' में अल्पज्ञ अन्य पुरुष के सीमित दृष्टि बिन्दु

को अपनाया गया है। वक्ता यद्यपि कथा के बाहर से ही उसका वर्णन करता है फिर भी वह सारी स्थिति को करमा की आंखों से ही देखता है। करमा जो कुछ भी करता है, जो कुछ भी सोचता है, या जिन परिस्थितियों से गुजरता है, उनके अतिरिक्त पाठक कोई अन्य बात नहीं जान पाता है। 'तीसरी कसम' में भी अन्य पुरुष वक्ता हीरामन के साथ एकाकार होकर एक सीमित दृष्टि बिन्दु से कथा का वर्णन करता है, किन्तु 'एक आदिम रात्रि की महक' के प्रतिकूल यहां समूची कथा में उसी दृष्टि बिन्दु का निर्वाह समान रूप से नहीं होता है। कहीं वक्ता हिरामन से निःसंग होकर उसके बारे में वस्तुपरक विवरण देता है—'चालीस साल का हट्टा-कट्टा, काला-कलूटा, देहाती नौजवान अपनी गाड़ी और अपने बैलों के सिवाय दुनिया की किसी और बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता।" कहीं वक्ता हिरामन के साथियों के भीतर झांक कर उनकी मानसिकता और गूढ़ाशयों का वर्णन करता है—"क्या जवाब दे पलटदास। हिरामन ने उसको चेतावनी दे दी थी, गपशप होशियारी से करना। वह चुपचाप गाड़ी की आसनी पर बैठ गया, हिरामन की जगह पर।" इत्यादि।

'प्रजासत्ता' में रेणु ने दृष्टि बिन्दु की एक अलग ही पद्धति को अपनाया है। वक्ता कहानी का एक पात्र है जो उत्तम पुरुष में कथा का वर्णन करता है। परन्तु यह वक्ता विश्वसनीय नहीं है। कहानी के आरम्भ में वह अपने और दूसरों के विषय में जो कुछ कहता है उसी पर विश्वास करने से कहानी के अर्थग्रहण में बाधा उत्पन्न हो सकती है। यह पात्र कायर और उत्पीड़न भयासक्ति से ग्रस्त है। अपने वर्णन में यह पात्र जिन कथा प्रयोजनों की ओर संकेत करता है, वे लेखक के अभिप्रेत प्रयोजनों से भिन्न हैं। दृष्टि बिन्दु की इस जटिल पद्धति से कहानी में निराली कलात्मकता दृष्टिगोचर होती है।

रेणु पात्रों के भावों या उनकी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने के लिए प्रायः उद्धरण चिह्नों का प्रयोग नहीं करते हैं। यह बात भी कथा-लेखन में शास्त्रीयता और शुद्धता के समर्थकों को परेशानी में डालती है। वास्तव में ये प्रतिक्रियाएं विभिन्न पात्रों के कथनों या मतों को प्रकट करने की अपेक्षा उनके दृष्टि बिन्दु को स्पष्ट करती हैं। एक ही कहानी में विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं या कथा वर्णन की अनेक पद्धतियों का एक साथ उपयोग करने से फणीश्वर नाथ रेणु ने कथा-स्थिति को उसकी पूर्णता में प्रस्तुत करने की कोशिश की है। □

लेख

रामचन्द्र शुक्ल का आलोचक कर्म—सामान्यीकरण

□ डॉ० प्राणनाथ तृछ्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की हिन्दी आलोचना दो धाराओं में प्रवाहित होती जान पड़ती है—१. प्राचीन कवियों की महत्ता का मूल्यांकन करने की दिशा में तथा २. काव्यालोचन के नवीन सिद्धान्तों के प्रतिपादन की दिशा में।

आचार्य शुक्ल प्राचीन कवियों की महत्ता का मूल्यांकन करने में अधिक तत्पर लगते हैं और यह तत्परता जायसी के काव्य के मूल्यांकन से आरंभ होकर तुलसी के काव्य-वैभव को प्रतिपादित करने तक व्याप्त है जिसमें उन्होंने अपने नवीन दृष्टि-विचारों का यथासम्भव समावेश किया है। अपने इस आलोचक-कर्म के द्वारा वे जायसी, सूर तथा तुलसी की न केवल महत्ता स्थापित करने में सफल हुए हैं, उनकी काव्य भंगिमाओं का भी यथासंभव निरूपण किया है।

आधुनिक आलोचना के विविध रूपों को यद्यपि वर्गों में बांधना कठिन है फिर भी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आलोचना रूप लगभग स्थिर हो चुके हैं। अभिव्यंजनावादी और प्रभाववादी आलोचना पद्धतियां भी महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक हिन्दी आलोचना अपने मुख्य रूप में प्रभाववादी और व्यक्तिवादी है। प्रभाववाद मुख्य रूप से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्तिचेतना का परिणाम है। प्रभाववादी आलोचना व्यक्ति (आलोचक) की संवेदनाओं और प्रतिक्रियाओं पर केन्द्रित रहती है। प्रभाववादी आलोचना का प्रयोजन है, कि व्यक्ति (आलोचक) का मन कोई काव्यकृति पढ़ते हुए जिन दशाओं से गुजरता है उनका अंकन करे। स्पिनगार्न ने इस बात को यों कहा है—प्रभाववादी आलोचक के लिए आलोचना का प्रकार्य है कि कला-कृति की उपस्थिति में संवेदनाएं हों और उनकी अभिव्यक्ति हो। आचार्य शुक्ल इनमें से किसी एक पद्धति के आलोचकों में नहीं आते हैं।

आचार्य शुक्ल मूलरूप में रसवादी आलोचक हैं। परन्तु शुद्धरूप में रसवादी नहीं हैं। उनको आधुनिक आलोचना के प्रवर्तक का पद प्राप्त है, अपने समय में उन्हें कोई आलोचना पद्धति उपलब्ध नहीं थी; न किसी प्राचीन या रूढ़िगत आलोचना का अस्तित्व ही था जिसकी

प्रतिक्रिया-विरोध स्वरूप उनकी आलोचना प्रस्तुत होती और न कोई आधुनिक, व्यक्तिवादी अथवा प्रभाववादी आलोचना की परम्परा थी जिसका वे अनुसरण करते। आलोचना के नाम पर गुण-दोष निरूपण ही, जिसमें भाषा दोष-निर्देशन भी सम्मिलित था, मुख्य था। परन्तु बौद्धिकता और चिन्तन की एक विशेष परम्परा भारतेन्दु युग से प्रबल वेग से आगे बढ़ रही थी और साहित्य समाजोन्मुखी चिन्तन से प्रभावित होने लगा था। इस चिन्तन का महत्त्वपूर्ण अंग बना स्वदेश। साथ ही हिन्दी के प्राचीन साहित्य के प्रति अनुराग भी जाग्रत हुआ। हिन्दी के प्राचीन कवियों का अध्ययन अपेक्षित लगने लगा और उनके महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए पत्रिकाओं-पुस्तकों में गवेषणापूर्ण लेख लिखे जाने की परम्परा चल पड़ी—ये लेख ही आचार्य शुक्ल से पहले आलोचना के रूप थे - जो न सुव्यवस्थित आलोचना है और न आलोचना के लिए कोई निर्देश। चिन्तन की समाजोन्मुखी प्रवृत्ति और बौद्धिकता का व्यसन—ये दोनों गुण आचार्य शुक्ल को आलोचक बनाने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुए।

आलोचक-कर्म में आचार्य शुक्ल को अनेक स्थलों पर ऐसे भावों-विचारों का प्रयोग करना पड़ा जो शाब्दिक रूप में या अस्पष्ट थे, या बहु-प्रयोग के कारण अभिप्रेत अर्थ का वहन करने में असमर्थ-से थे। ऐसे शब्दों को लेकर उन्हें अपनी आलोचना में व्यवहृत रूप में प्रयुक्त सन्दर्भों-अर्थों को स्पष्ट करने की अनिवार्यता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति उनके निबन्धों द्वारा हुई। उनके निबन्धों में आलोचना क्षेत्र का विस्तार है; आलोचना में व्यवहृत शब्दार्थ-स्पष्टीकरण ही ध्येय है और भावों की मनोवैज्ञानिक विवेचना साधन। इस तरह शुक्ल जी के निबन्ध आलोचना की कुछ संकल्पनाओं का प्रस्तुतीकरण हैं। आलोचक और सर्जक (निबन्धकार) अलग नहीं, एक-दूसरे के पूरक हैं। आलोचना और निबन्ध आलोचक शुक्ल की संवेदन-शक्ति के परस्पर-आश्रित द्वार हैं। इस प्रकार की संवेदन-शक्ति प्रायः साधारण पाठक में दुर्लभ है अतः इस संवेदना से अपरिचित पाठक में संवेदना जगाने का कार्य शुक्ल जी बौद्धिकता द्वारा करते हैं जिससे काव्यकृति का आस्वादन सहज और स्वाभाविक हो सके; ज्ञान द्वारा चित्तवृत्तियां व्यक्तित्व का अंग बन सकें तथा व्यक्तिगत भावुकता का निराकरण हो सके। विशेष चिन्तन के फलस्वरूप उपलब्ध तत्त्वबोध को सामान्यीकृत करने की क्षमता साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा निबन्ध में शुक्ल जी को दृष्टिगत हुई। उनकी धारणा यह भी रही होगी कि वास्तविक सामान्यीकरण घनीभूत धारणाओं पर आरोप की गई वस्तु नहीं हो सकता, यह सहृदय का एक रचनांग है तथा संवेदन-शक्ति के विकास का सहायक तत्त्व। यदि आलोचना में केवल भावुकता का प्रस्फुटन है तो वह अच्छी आलोचना नहीं; इसी कारण सतही तौर पर भावुक दिखाई देने वाली आलोचना के पीछे एक संकल्पना भी है—इसके प्रकाशित होने का स्थान शुक्ल जी के निबन्ध हैं। शुक्ल जी इस बात के प्रति सदैव सतर्क थे कि कहीं सामान्यीकरण अस्पष्ट न रह जाए, वायवी न रहे, या अपने ऐतिहासिक महत्त्व तथा आधुनिक ज्ञान की परिधि से बाहर न रहे। इस प्रकार का सामान्यीकृत तत्त्वबोध 'रस मीमांसा : सैद्धान्तिक आलोचना' में सहज परिलक्षित है। आलोच्य ग्रन्थों की भूमिकाओं में आलोचक शुक्ल की संवेदनशक्ति, पांडित्य, वस्तु की परख, इतिहास, बोध तथा तत्त्वबोध के सामान्यीकरण की शक्ति सहज ही में दृष्टिगोचर होती है। 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका में आलोचक शुक्ल की इस सामर्थ्य का परिचय मिलता है - चुना हुआ अप्रस्तुत व्यापार जितना ही प्राकृतिक होगा -- जितना ही अधिक मनुष्य जाति के आदिम जीवन में सुलभ दृश्यों के अन्तर्गत होगा—उतना ही रमणीय और अनुरंजनकारी होगा।

अलंकारों के सम्बन्ध में इस प्रकार का सामान्यीकरण कदाचित स्वयं अलंकारवादी भी

प्रस्तुत कर सके हों। तत्त्वबोध के सामान्यीकरण का उद्देश्य भावबोध कराना और कवि की कृति में भावबोधजन्य वैचारिक तन्मयता लाना है। साधारणीकरण की संकल्पना को विविध आयामों में रखकर समझाने की भी यही प्रेरणा रही है। काव्यास्वादन के प्राचीन सिद्धान्तों के मानने की रूढ़िमयता का दोषारोपण आचार्य शुक्ल पर किया जाता यदि वे रूढ़ि को प्रगति का आवश्यक तत्त्व न समझते होते। प्राचीन का अवलोकन-अवगाहन उनके समीप उपादेय ही नहीं वरन आवश्यक भी था। प्राचीन (जो आधुनिक नहीं) कवियों की शाश्वतता और सर्वयुगीनता को प्रतिपादित करने के लिए रूढ़ अतः विस्मृत सिद्धान्तों का सामान्यीकरण करना और नवीन (वर्तमान) ज्ञान का समावेश करना आचार्य शुक्ल की विवशता थी। इस विवशता ने आलोचक शुक्ल के लिए एक और कठिनाई उपस्थित की। युगान्दोलन की बीहड़ता में, जब पुराने मानदंड बदल रहे थे, सामाजिक सुधार की चेतना राष्ट्रव्यापी हो चली थी, सात समन्दर पार रहने वाली राजराजेश्वरी के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध विश्वव्यापी अनास्था थी, नवीन ज्ञान का जो मुख्य रूप से विदेशी सम्पर्क की देन था, समावेश स्वातन्त्र्य चेतना के विपरीत जा सकता था। साहित्य के नैतिक-धार्मिक तत्त्वों का सामान्यीकरण अपेक्षित बन गया। इस अपेक्षा की सुधि आचार्य शुक्ल के लिए शील, शक्ति और सौन्दर्य का वन्द वृत्त बनकर आलोचना व्यापार चलाने की विवशता भी बनी और आवश्यकता भी। शील, सौन्दर्य और शक्ति के वन्द वृत्त में उनकी आलोचना, धर्मान्धिता से कोसों दूर, सर्वजन सुलभ भी है और दर्शन प्रतिपादिका भी। दर्शन प्रतिपादन ने काव्य को आस्वादन करने की नवीन प्रणाली और क्षमता प्रदान की। दर्शन का प्रतिपादन कवि की दृष्टि से तथा चिरकाल से संचित ज्ञान राशि के आधार पर हुआ है; कवि चिरन्तन सत्य से आविष्ट भी है, मुक्त भी। दर्शन मनुष्य के संचित ज्ञान का सार है, तत्त्व है, यह सरल भी है, दुरूह भी। आलोचक दृष्टान्तों अथवा सन्दर्भों द्वारा दर्शन का तत्त्व-बोध कराता है। तत्त्वबोध तर्क और बुद्धि द्वारा ही हो सकता है मात्र निष्ठा से नहीं। तत्त्वबोध से ही निष्ठा भी आती है। जब तक तत्त्वबोध सामान्यीकृत नहीं होता तब तक वह 'सुर सरि सम' सबके हित का नहीं हो सकता। कविता के सन्दर्भ में वे मनुष्य के आदिम वन्य जीवन के मधुर संस्कार को उद्दीप्त करने वाले शब्दों में माधुर्य देखते हैं। 'किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप को गढ़कर या काट-छांटकर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि कल्पना कह सकते हैं यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्त्तक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय-प्रेरित हुए। 'रूपों की तह में उनके प्रवर्त्तक भाव' जानने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का सहारा लें अथवा आत्म-ज्ञान संबंधित आध्यात्म का; अभिव्यंजना का पल्ला पकड़ें या रस-सिद्धान्त का ध्येय तो यही है कि तत्त्वबोध को सामान्यीकृत किया जाय जिससे सहज या आदिम संस्कार उद्दीप्त हों। इस ध्येय की पूर्ति के लिए आलोचक शुक्ल को कभी अपनी बात स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित करने की आवश्यकता पड़ी तो कभी कवि के काव्य का मूल्यांकन करते हुए, उसकी महत्ता स्थापित करते हुए, उद्धरण सहित ग्रन्थों की भूमिका में प्रतिष्ठित करनी पड़ी।

अध्ययन की गहनता तथा वैविध्य से आलोचक शुक्ल को कई विरोधाभासों का सामना भी करना पड़ा। प्राचीन काव्य-शास्त्र और नवीन दार्शनिक साहित्य सिद्धान्त उनके अध्ययन क्षेत्र के केन्द्रीय विषय थे, वे रूढ़ि को प्रगति का पड़ाव समझनेवाले आलोचक थे अपने व्यक्तित्व की इस विलक्षणता ने उन्हें प्राचीन का स्वीकार और नवीन का बहिष्कार करने वाला नहीं अपितु प्राचीन और नवीन दोनों में से अपने विवेक के अनुरूप तत्त्वग्राही बनाया। तत्त्वग्राहिका

शक्ति शुक्ल जी में अपूर्व और असाधारण मात्रा में विद्यमान थी। 'वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद' उनकी इस असाधारण ग्राहिका-शक्ति का प्रमाण है। उनके इस कथन को पर्याप्त अस्वीकृति (आलोचना नहीं) मिली कि 'यूरोप का यह अभिव्यंजनावाद' हमारे यहां के पुराने वक्रोक्तिवाद- वक्रोक्ति काव्य-जीवितम्- का ही नया रूप या विलायती उत्थान है।" क्रोचे के सिद्धान्त के बारे में स्वयं पाश्चात्य विद्वान् कोई महत्त्वपूर्णमत नहीं रखते। 'जो विद्यार्थी इस विषय के बारे में सम्पूर्णता से जानना चाहता है उसको मात्र बोसांके की पुस्तक ही नहीं पढ़नी चाहिए परन्तु इटली निवासी सिगनॉर बेनदेत्तो क्रोचे की कृति भी। वह मुझे दर्शन-शून्य समझता है और मैं उसको अनावश्यक।" परन्तु यह मान्यता यूरोप में विशेषतः अंग्रेज़ी आलोचना में क्रोचे को अवश्य मिली थी कि अभिव्यंजनावाद आलोचना का विपत्तिजनक प्रत्यय साबित हो सकता है। अभिव्यंजनावाद ने प्राचीन के स्थान पर नए याहृच्छिक मानदंड खड़े किए। जब भी काव्य-परीक्षा अमूर्त होती है, बौद्धिकता के विषय को छोड़कर, तो इस विपत्ति से बचना कठिन हो जाता है। अतः काव्य की अमूर्त परीक्षा से आलोचक को बचना चाहिए। प्राचीन काव्य-शास्त्रियों ने वक्रोक्ति की व्यापकता और काव्यात्मकता का पर्याप्त संकोच करके शब्दालंकार तक सीमित किया था और उपमाप्रपंच के अन्तर्गत अर्थालंकार घोषित किया था। पाश्चात्य विद्वानों के सदृश आचार्य शुक्ल ने दो-टूक भर्त्सना तो नहीं की प्रत्युत वक्रोक्ति जैसे निकृष्ट और प्रायः अमान्य अलंकार भेद के समक्ष अभिव्यंजनावाद को रखा। 'विलायती उत्थान' कहकर अभिव्यंजनावाद के स्वतन्त्र (भारतीय वक्रोक्ति से, अतः कुन्तक से), रूप में प्रकाश में आने का आग्रह है। कालान्तर में नए तथा बदले हुए आलोचना के मानदंडों को मान्यता प्राप्त हुई। शुक्ल जी ने अपने विवेक की कसौटी पर दोनों के मूलभूत सिद्धान्तों, प्रत्ययों की व्याख्या की और काव्यालोचना में इनकी उपादेयता समझकर सामान्यीकरण किया। इस प्रकार शुक्ल जी की मौलिकता दुरूह और गूढ़ का, प्राचीन और नवीन के सायुज्य का सामान्यीकरण करने में है। इस कथ्य के प्रकाश में डॉ० नगेन्द्र के आक्षेप उत्तरित हो जाते हैं।

आचार्य शुक्ल को तत्कालीन आलोचना क्षेत्र में हम एकाकी पाते हैं। परन्तु उनके कट्टर विरोधी (यदि कोई हों) भी उन पर अपरिपक्व चिन्तन या अल्प अध्ययन का आक्षेप नहीं लगा सकते। जैनेन्द्रकुमार ने शुक्ल जी पर तुलसी के अध्ययन के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण आक्षेप किए हैं—"तुलसी को, जो भीतर तक भीगे निपट भक्त थे, शुक्ल जी ने नाना बनाव में देख-दिखा डाला।···यह कृपा आलोचक की अकृपा है।···और मैं मानता हूं कि शुक्ल जी ने जिस रूप में तुलसीदास को ग्रहण किया— वह तुलसीदास का आंतरिक स्वरूप नहीं, आरोपित स्वरूप ही है। अर्थात् कवि की आन्तरिकता को शुक्ल जी अपने अन्तर में अनुभव नहीं कर सके।"

शुक्ल जी का काव्यालोचन साधारण पाठक में काव्य ग्राह्य-शक्ति उद्भूत कराने के हेतु है। साधारण पाठक ने 'तत्त्वमसि' सूत्र भले ही सुन रखा हो, उसके दर्शन-तत्त्व से अनभिज्ञ ही रहता है। उसके मूल में निहित ज्ञान से परिचित होने के उपरान्त अपनी सामर्थ्य के अनुरूप प्रयत्नरत हो पाने की क्षमता अर्जित कर सकता है। शुक्ल जी यह न समझते हों कि 'तुलसी भीतर तक भीगे निपट-भक्त थे' किसी विद्वान-रचयिता का निष्पक्ष कथन नहीं हो सकता है। भक्ति का उन्होंने विशद् प्रतिपादन किया और 'भीतर तक भीगे' का अर्थ ही नहीं संकल्पना मानकर सामान्यीकरण भी किया। 'साधन-धाम विबुध दुर्लभतनु' कहने वाले कवि को न

आलोचक और न ही सुधी पाठक व्यक्ति—घेरे में बद्ध भक्त मान सकता है। अवश्य ही वह 'लोक की गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वे उसके बीच पैदा होने वाली बुराइयों को तीव्र दृष्टि से देखने वाले थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने समय की जनता की दुःख-दशा और दुर्वृत्ति तथा मर्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है, उसी प्रकार लोक-मर्यादा के ह्रास में सहायता पहुंचाने वाली प्रच्छन्नता शक्तियों को भी पहचाना है।' शुक्ल जी का यह कथन तुलसी के बाह्य-स्वरूप को ही नहीं आन्तरिक स्वरूप की तर्क सम्मत व्याख्या तथा सर्वसाधारण द्वारा ग्राह्य सामान्यीकरण है। काव्यास्वादन की क्षमता प्रदान करना आलोचक का कर्म हो या न हो परन्तु काव्य का यदि कोई बाह्य प्रयोजन है तो यही कि जीवन में क्रम-दर्शन हो, इसी कारण काव्य में क्रम होना अनिवार्य हो जाता है। काव्य अनुभवों का विस्तार भी है, विस्तार में से क्रम-दर्शन कर सकना तत्त्व-ग्रहण है। तत्त्वबोध आलोचक-कर्म द्वारा सामान्यीकरण से सहज-सरल हो जाता है। शुक्ल जी ने काव्य-सागर में पैठकर समाज-कल्याणकारी मणि चुन लिये और उन मणियों की पहचान भी करायी। वे केवल किनारे पर रहकर सागर में उपलब्ध, प्राप्य मणियों का संकेत मात्र नहीं करते। शुक्ल जी ने नीतिदान, सुधार-प्रेरणा या लोक संग्रह की आकांक्षा को ही कवि कर्म नहीं माना और न ही बुद्धि व्यापार माना। आचार्य वाजपेयी कहते हैं—'जिस प्रकार शुक्ल जी ने काव्य और कलाओं के सामाजिक सम्पर्क की आवाज़ उठाई, उसी प्रकार उन्होंने रचनाकार की मनःस्थिति का भी हवाला दिया है।' शुक्ल जी में वह विचक्षण प्रज्ञा थी जो मनुष्य को अपने कार्य-क्षेत्र में चयन करने की सुविधा प्रदान करती है, इस तरह से उसे अनेक सम्भाव्य उलझनों से बचाती चलती है। जब साहित्यालोचन में काव्य के साथ रचनाकार की मनःस्थितियों का भी विश्लेषण करने का फैशन पनपा तो इसमें अनिवार्यता इस बात का पता लगाने या बात को ध्यान में रखने की प्रवृत्ति भी सम्मिलित हो गयी कि रचनाकार किस विशेष धड़े से सम्बन्धित है। आधुनिक आलोचना इस परिणाम की साक्षी है। आज जो बौद्धिक-सामाजिक वातावरण आलोचकों को उपलब्ध है—उसके सद्‌परिणाम जो भी हों दुष्परिणाम तो सबके समक्ष हैं कि विभिन्न वादों के आदर्शों के सम्पर्क (तथा उनमें आस्था) के कारण आलोचक जिस कृतिकार की महनीयता, स्वातन्त्र्य और आदर्श को उद्घरित करने चलते हैं उसी का हीन स्वरूप, सर्वजन-अग्राह्य रूप सामने आता है। और कृति भी आश्रेयग्रस्त हो जाती है। काव्य की वस्तु मनुष्य और मनुष्यता का सार्वभौम स्वरूप, स्वातन्त्र्य, शील, सब विलीन हो जाती है। आचार्य शुक्ल ने इस निषिद्ध फल को चखने का लोभ-संवरण किया। इस क्षेत्र में अवतरण करते, कदाचिद् उन्हें ज्ञान के उपादानों का अभाव भी प्रतिभासित हुआ, इसी कारण रचनाकार की मनःस्थिति का 'हवाला' भर दे पाये। इस दिशा में उनकी पद्धति, उद्‌घाटन शोध करके सामान्यीकरण की पद्धति, आधुनिक वैज्ञानिक पुष्टि (जो आधुनिक आलोक को प्राप्य है।) के अभाव में दोषग्रस्त भी होती। वे रचनाकार मनुष्य के भावों की अपेक्षा पाठक, सहृदय के भावों की चर्चा करते हैं—"जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जब कि उनका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ हो जाय।" "कविवाणी के प्रसार से हम सुख-दुःख, आनन्द क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ-युक्त रूप में अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बन्धन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है।···भावयोग की सबसे ऊंची कक्षा पर पहुंचे हुए मनुष्य के जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय

विश्व-हृदय हो जाता है।" सहृदय के काव्यास्वादन की प्रक्रिया का, पाठक की मनःस्थिति का विशेष अवस्था में आ जाने की प्रक्रिया का तत्त्वबोध का सामान्यीकरण की पद्धति के अनुकूल विषय है, अतः इसका बहिष्कार शुक्ल जी ने नहीं किया। शुक्लजी ने मनुष्यता शब्द का उद्घाटन और शोध प्रस्तुत नहीं किया अतः इसका सामान्यीकरण भी नहीं किया। मनुष्यता का ग्रहण कदाचित वे भारतीय मनीषा के द्वारा व्यक्त अर्थों में ही ग्रहण करते हैं। मनुष्यता सभी वस्तुओं का मान है। यह विचार तो प्राचीन यवनानियों का भी है। परन्तु मनुष्य क्या है जिसके आधार पर मनुष्यता की रूपरेखा स्थिर की जाए? प्राचीन समय से आज तक मनुष्य की प्रकृति के विचार के फलस्वरूप अनेक सिद्धान्त-मान्यताएं प्रचलित हुईं और मनुष्यता तदनुरूप ही समझी गयी; इस प्रकार ईसाई मनुष्यता, सेक्यूलर मनुष्यता आदि संकल्पनाएं भिन्न और वैविध्यपूर्ण हैं। सार्त्र ने तो अस्तित्ववाद को ही मनुष्यता में बदल के रख दिया। अतः मनुष्यता कहने से पहले अपनी पद्धति के अनुरूप मनुष्यता की संकल्पना का सामान्यीकरण न करना शुक्ल जी का सावधान कर्म लगता है। और इसका सन्धान करने की समाज-धर्मी आलोचक को आवश्यकता भी नहीं। शुक्ल जी शुद्ध चिन्तक थे और शुद्ध चिन्तक किसी भी सिद्धान्त-मान्यता को आंख मूंदकर स्वीकार नहीं करता। जब तक अपने विवेक की कसौटी पर परखता नहीं, वह किसी भी संकल्पना को अंगीकार नहीं करता और जब अंगीकार करता है तो उसको स्पष्ट, बुद्धिग्राह्य शब्दों में प्रकाशित भी करता है। साहित्य के शास्त्र-पक्ष (आलोचना) की प्रतिष्ठा काव्य-चर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिए, रचना के प्रतिवन्ध के लिए नहीं। □

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का काव्य

□ डॉ० पद्‌मजा घोरपडे

पैनी तार्किक दृष्टि से भावों को विवेचित और विश्लेषित करने वाले तथा सूक्ष्म निरीक्षण के बल पर वस्तु, भाव एवं विचार जगत को व्याख्यायित और परिभाषित करने वाले श्रेष्ठ आलोचक, निबंधकार तथा इतिहासकार रामचंद्र शुक्ल का काव्य हमारे लिए उत्सुकता का विषय बन जाता है। जिज्ञासावश जब हम शुक्ल जी के काव्य का परीक्षण करने लगते हैं तब कई प्रश्न मन में सहजता से उत्पन्न होते हैं। काव्य का सम्बन्ध अधिकतर कवि के भाव-जगत से होता है। रामचंद्र शुक्ल का विचार-प्रधान व्यक्तित्व काव्य में कौन-सी भूमिका धारण करता होगा ? हृदय को गहराई से स्पर्श करनेवाले काव्य में तार्किकता बहुत दूर तक साथ नहीं दे पाती। शुक्ल जी का कवि रूप और उनका तर्कनिष्ठ व्यक्तित्व - इनका आपसी सम्बन्ध किस प्रकार रहा होगा ? गद्य विधा के वैशिष्ट्यों को पूरी तरह पचाकर अभिव्यक्ति के चरम बिंदु तक पहुंचे हुए गद्यकार रामचंद्र शुक्ल काव्य की बिल्कुल भिन्न भाव-भूमि पर किस तरह अभिव्यक्त हुए होंगे ? ये कुछ प्रश्न उनके काव्य का अध्ययन करने के लिए हमें निश्चित ही प्रेरित करते हैं।

मधुस्त्रोत में संकलित उनकी कविताओं में ग्राम्यजीवन की झांकियां, प्रकृति के विविध दृश्य, ऋतुओं की छटाएं और मानवी जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसंग चित्रित किए गए हैं। देशप्रेम, संस्कृति प्रेम, राष्ट्रभाषा प्रेम तथा महान विभूतियों के स्मरण भी इनके काव्य के विषय बने हैं। देश-प्रेम जैसी कविताएं सोद्देश्य लिखी गई हैं तथा कवि का उपदेशक उन पर हावी है सहज हो भी सकता है लेकिन **शिशिर पथिक, प्रकृति-बोध, वसंत पथिक, मधुस्त्रोत** जैसी मानवी भावों को छूनेवाली कविताओं को भी उपदेशक की सतर्कता ढोनी पड़े, यह बात अखरती है।

'मधुस्त्रोत' की 'तुम भी, ग्राम ! खुले सपने हो रूप रंग में वही बने हो'' जैसी ग्राम के सहज, सरल और भोले-भाले सौंदर्य का वर्णन करने वाली पंक्तियों की पार्श्वभूमि पर 'कहीं हृदय अपना समेटकर, कोश-कीट बन जाय, इसी हेतु अविरत मधुधारा द्वार-द्वार पर टकराती है' जैसी उपदेशपरक पंक्तियां नीरस जान पड़ती हैं।

'शिशिर पथिक' तथा 'भारत और वसंत' कविताओं के साथ कवि ने पूर्वकथासूत्र को बयान करने हेतु तथा पाठकों के लिए अधिक जानकारी प्रदान करने हेतु दीर्घ टिप्पणियां

जोड़ी हैं। अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए कविता का माध्यम कवि को शायद संक्षिप्त लगा होगा अतः दीर्घ टिप्पणियां देने की आवश्यकता महसूस हुई होगी। शुक्ल जी की दीर्घ कविताएं, कविताओं के साथ दी गई दीर्घ टिप्पणियां, उनकी अभिव्यक्ति की सपाट-बयानी, गद्य स्वरूप शैली तथा परिभाषा एवं सूक्ति रूप में लिखने का ढंग आदि देखकर पाठकों को उनके निबंधों की याद आए बिना नहीं रहती। ये कविताएं पढ़ते समय मन में विचार उठता है कि शुक्ल जी यदि इन विषयों पर कविता के बजाय निबंध लिखते तो विषय और विधा दोनों के साथ न्याय कर पाते। 'प्रकृति-बोध' की "कर्म जिसे करते न जानते, है वह सोना /···सपना है क्या ? अपना रहना अपने भीतर / चलना पैर पसार, देखना आंख मूंदकर ?/यदि जागृति है सत्य, स्वप्न है उसकी छाया" पंक्तियां इसकी साक्षी हैं। हर विधा की अपनी सीमाएं तथा अपनी विशेषताएं होती हैं और हर व्यक्ति की भी। जब शुक्ल जी जैसा गद्यकार व्यक्तित्व काव्य की सांकेतिकता एवं प्रतीकात्मकता का अतिक्रमण करके विस्तारित होना चाहता है तब काव्य अपना सौंदर्य एवं अपनी सहजता कहीं खो देता-सा प्रतीत होता है।

'प्रेम प्रताप' तथा 'विरह सप्तक' में प्रेम की शक्ति, प्रणय की कमनीयता एवं उसका प्रभाव तथा विरह की स्थिति का वर्णन पूर्ववर्ती परंपरा के अनुसार किया गया है। उन घिसे-पिटे दृश्यों एवं वैसी ही उपमाओं की तुलना में विचार-प्रवर्तक गद्यकार रामचंद्र शुक्ल कई गुना प्रभावी प्रतीत होते हैं। 'बसंत पथिक' में विरह की आग में जलने वाले और भटकने वाले प्रेमी का प्रभावी चित्र कवि आंकते हैं। अंत में संयोगवश उसका प्रेयसी से मिलन होता है। कवि पाठकों से कहते हैं, "पाठक, यहां क्या काम अब ? हम आप अपनी राह लें।" मिलन का यह प्रसंग और कवि का दृश्य के साथ पाठकों को लेकर यात्रा करने का भाव हल्की-सी नाटकीयता तथा चमत्कृति पैदा करता भी हो लेकिन कवि की अपनाई हुई यह 'सूत्रधार' की भूमिका कविता को 'सपाट' कर देती हैं। शुक्ल जी की नैतिकता यहां श्रृंगार रस के चित्रण से सहम गई और काव्य में श्रृंगार रस की स्थिति विषयक उनकी सैद्धांतिक मान्यताओं को भी काट ले गई।

'हृदय का मधुर भार' प्रदीर्घ कविता है। पहली दस-बारह पंक्तियों में कवि मन की व्याकुलता एवं तल्लीनता के दर्शन होते हैं। 'कहां लिए जाता है मुझको यह जीवन विस्तार ?' कवि का यह व्याकुल प्रश्न उसके समृद्ध अतीत की पार्श्वभूमि पर जन्मे-उखड़े वर्तमान के कारण उत्पन्न हुआ है। दरअसल कविता यहीं समाप्त होती है। उसके उपरांत घटनाओं का विस्तार, प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन, प्रकृति की ओट में बसे गांव का वर्णन है। विलासी प्रवृत्तियों के प्रति, शहरीकरण एवं यांत्रिकीकरण की प्रवृत्ति के प्रति कवि-मन का आक्रोश भी इस कविता में दर्ज किया गया है। इसमें कवि प्रकृति से कुछ लेने की सीख देते हैं। जनपद की चंचलता (जो अन्यत्र दुर्लभ है) को सराहते हैं। ग्राम में कवि को और उनके दोस्तों को प्राप्त अनुभवों का दीर्घ ब्यौरा देते हैं। इनके बीच 'जीवन की धारा अभी/सूखी नहीं, यहां क्षीण होकर रही है बह/· जीवन की ज्वाला से किनारे पड़े हुए पिंड/पिघलेंगे कैसे कुछ विश्व-मर्मता बटोर ?' जैसी सुन्दर पंक्तियां बिखरी हुई हैं। लेकिन कुल मिलाकर कवि की 'कॉमेंट्री' सुनाने वाले की भूमिका और उपदेशक एवं दार्शनिक का स्वरूप कविता को बहुत बड़ी हद तक नीरस बना देता है।

'मधुस्त्रोत', 'वसंत', 'हृदय का मधुर भार' आदि कविताओं में मनुष्य की लालची,

स्वार्थी प्रवृत्ति, जीवन का संकुचित उद्देश्य एवं प्रकृति से दूर हटने के कारण मनुष्य को पहुंचा नुकसान आदि के प्रति कवि-मन का आक्रोश व्यक्त हुआ है। यह आक्रोशप्रभावी ढंग से संप्रेषित भी हुआ है। लेकिन तुलना में ये सारे प्रसंग भावस्पर्शी कम हैं, वर्णनात्मक तथा उपदेशात्मक ही अधिक हैं।

प्रेम, प्रणय एवं प्रकृति-प्रेम के साथ कवि ने देश-प्रेम को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। 'भारत और वसंत', 'देशद्रोही को दुत्कार', 'फूट', 'आशा और उद्योग', 'वंदना', 'हमारी हिंदी'; 'याचना', 'पाखंड प्रतिबोध', 'हर्षोद्गार', 'रानी दुर्गावती', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र', 'देवकी नंदन खत्री का वियोग', 'भारतेन्दु जयंती', 'गोस्वामी और हिंदू जाति' आदि उनकी कविताएं देशप्रेम को, संस्कृति-प्रेम को तथा देश में जन्मे महान व्यक्तियों के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा को वाणी देती हैं। इन कविताओं में कवि ने भारत का सम्मान ऊंचा करने वालों के प्रति अपनी आदरांजलि अर्पित की है। साथ ही भारत के नाम और गौरव को कलंकित करने वालों को धिक्कारा है। 'पाखंड प्रतिबोध', 'देशद्रोही को दुत्कार', 'फूट' आदि कविताओं में कवि ने पाखंड पर, फूट की प्रवृत्ति पर, पाखंडियों पर एवं देशद्रोहियों पर तीखा व्यंग्य किया है। इन कविताओं में कवि की सशक्त भाषा के दर्शन होते हैं।

'मधुस्रोत' में कवि ने कालिदास, भवभूति आदि के हृदय जहां मिलते हैं उस भरत-भूमि का, भारतीय मानस का आभास देने वाली चित्रकूट की भूमिका और मंदाकिनी सलिल का श्रद्धा युक्त मानस से गौरव किया है। ऐसी भूमि को कलंकित करने वालों को कवि ने उतनी ही कठोर भाषा में 'देशद्रोही को दुत्कार' में दुत्कार दिया है। 'अधम', 'नीच', 'पामर', 'स्वार्थी', 'अंध' आदि शब्दों में कवि ने उनके कलंकित कृत्यों का पर्दाफाश किया है। भारत-भूमि का अन्न-जल खा-पीकर उसे ही धोखा देने वालों पर कवि ने वज्र के समान प्रहार किए है।' कहां फिरंगी न्याय नीति के बल की प्रबल दुहाई' जैसी पंक्तियों में उनकी चिंता भी व्यक्त होती है। 'भारत और वसंत' कविता में भारत और वसंत के संवादों द्वारा कवि ने भारत के अतीत और वर्तमान परिस्थितियों में आए जमीन आसमान के अंतर को स्पष्ट किया है। इसमें वर्तमान राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रतिध्वनियों आदि पर प्रकाश डाला है। रूस जैसी प्रबल पाश्चात्य शक्ति को हराने वाले जापान जैसे पौर्वात्य राष्ट्र के उल्लेख से कवि दुर्बलों में विश्वास जगाना चाहते हैं। यहां कवि की सामाजिक वैश्विक जीवन के प्रति संजगता का परिचय हमें मिलता है। 'आशा और उद्योग' में कवि का अदम्य साहस और विश्वास झलक पड़ा है। शत्रु की प्रबल सेना के सामने भी वह हारने को तैयार नहीं। कवि ने इस साहस के साथ ही फल की अपेक्षा न करते हुए देश के अपमान और दुख का बदला लेने की बात की है। यह सब करने के लिए बल और साहस चाहिए। इसके लिए 'वंदना' कविता में कवि ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। भारत में जन्मे महान साहित्यिक, शूरवीर आदि को आदरांजलि अर्पित करते हुए लिखी कविताओं में कवि का संस्कृति के प्रति प्रेम, आदर्शों एवं मूल्यों के प्रति प्रेम व्यक्त होता है। 'हमारी हिंदी' जैसी कविताएं उनके भाषा-प्रेम को एवं राष्ट्रभाषा के द्वारा सभी भारत-वासियों को एकसूत्र में बांधने की उनकी चाह को व्यक्त करती हैं। हिंदी भाषा का महान कार्य एवं भाषा की शक्ति पर कवि प्रकाश डालते हैं।

शुक्ल जी की कविताएं अपने युग के लिए उपकारक सिद्ध भी हुई होंगी। लेकिन आज के परिवेश में उनकी प्रासंगिकता का प्रश्न नकार की ओर झुककर ही अपना उत्तर पाता है। उनके युग की परिस्थितियों के और साहित्य से की जाने वाली अपेक्षाओं के परिप्रेक्ष्य में हम

उनकी कविता का मूल्यांकन करना चाहें तो भी अभिव्यक्ति एवं संप्रेषणीयता की दृष्टि से ये कविताएं काव्य से अधिक गद्यविधा के नजदीक लगती हैं। सोद्देश्य दृष्टि और उपदेश देने की ललक मद्देनजर रखकर सप्रयत्न लिखी गई कविताओं की सीमाएं पाठक आप ही जान सकते हैं। इन्हीं कारणों से शुक्ल जी के काव्य की सीमाएं उत्पन्न हुई हैं और कविता पाठकों की संवेदना को छूने से चूक जाती है।

'मधुस्रोत' संग्रह में कवि का निबंध 'कविता क्या है?' उद्धृत किया गया है। उसमें व्यक्त कविता सम्बन्धी उनके विचार, कविता की भाषा सम्बन्धी उनके मत, कविता से उनकी अपेक्षाओं आदि का तालमेल उनकी कविताओं से बैठता है। लेकिन आलोचक का यह कड़ा अनुशासन ही उनकी कविता की बड़ी सीमा बन गया। 'कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देव-लोक और मनुष्य देवता हो सकता है। कविमन की इस नैतिक सोद्देश्यता का कविता पर हावी हो जाना कविता को यंत्रवत् बना देता है। कविता अपनी गरिमा खो देती है। शुक्लजी की कविता के साथ यही हुआ है।

यहां शुक्लजी जैसे महान साहित्यकार का अवमूल्यन करने का कोई भाव नहीं है। उनकी कविताओं का वस्तुनिष्ठ अवलोकन करना ही उद्देश्य है। इनके काव्य की सीमाएं अखरती हैं क्योंकि युग प्रवर्तक निबंधकार शुक्ल जी के विचार की सक्षम अभिव्यक्ति, सूक्ष्म तथा निर्भय आलोचक की दृष्टि के कारण हिंदी साहित्य में उनका जो गरिमामय स्थान है उसकी तुलना में उनका काव्यविधांतर्गत व्यक्तित्व बहुत ही कमजोर-सा प्रतीत होता है। एक विधा में अभिव्यक्ति की चरम सीमा पर पहुंचा व्यक्ति दूसरी विधा में भी वही स्थान ग्रहण करे यह कोई आवश्यक नहीं। उसके लिए उसे दोष भी नहीं दिया जा सकता लेकिन शुक्लजी के ज्ञात साहित्यिक व्यक्तित्व की पार्श्वभूमि पर पाठक उनकी कविता से निश्चित ऐसी अपेक्षाएं रखता है। परिणाम यह होता है कि उनकी कविता में अनुपलब्ध वैशिष्ट्यों की खोज में एक बड़े झूठ का निर्माण होता है—शुक्लजी की आत्मा शायद उससे अधिक दुखी ही होगी। □

कश्मीरी चिड़ों का समाजशास्त्रीय आधार

□ डॉ० अग्निशेखर

नाम धरने की कला कश्मीर में अपने विकासक्रम में चरम-सीमा को छू रही है। भारतवर्ष में यह प्रथा यद्यपि प्राचीनकालिक है, परन्तु कश्मीर की उर्वरा भूमि ने निरन्तर प्रोत्साहन देकर लगभग सभी संभावनाओं तक इसका विकास किया। नाम धरने की कला में शताब्दियों से पारंगत कश्मीरियों के अधिकांश वर्तमान कुलनाम (सरनेम) शत-प्रतिशत 'चिड़ें' हैं, जिनमें कुछ तो इतनी अश्लील, बेहूदी, भोंथरी और भोंडी हैं कि उनका अनुवाद किसी गैर-कश्मीरी को सुनाना तक लज्जास्पद लगता है। कश्मीरी 'चिड़ें' के दुष्प्रभाव पर विचार करते समय मुझे लगता रहा है कि 'चिड़ों' प्रसिद्ध साहित्यकार हेज़लिट्ट के शब्दों में किसी भी व्यक्ति पर फेंका जा सकने वाला शैतान का कठोरतम पत्थर ही नहीं, यह एक ऐसा प्रेत है जो आदमी की अन्तिम सांस तक ही उसके पीछे नहीं लगा रहता बल्कि मरणोपरांत भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके वंश पर छाया रहता है।

कश्मीरी 'चिड़ों' की बेशुमार संख्या, उनमें छिपा हुआ पैना व्यंग्य, कटाक्ष, हास्य, लालित्य, यहां तक कि उनकी शास्त्रीय संरचना देखकर यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि कश्मीरियों ने इस कला को सदैव महत्त्व देकर इसे मनोरंजन के एक सर्वप्रिय साधन के रूप में विकसित किया है। एक विद्वान[२] के शब्दों में चिड़ों के प्रति प्रेम कश्मीरियों के रक्त में मिला हुआ है। उन्होंने बल्कि इस कला को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने रक्त से पोषित किया है।' इन चिड़ों के सृजन की प्रेरणा, कश्मीरियों को, किसी विशेष घटना, आदत या शरीर की बनावट से जुड़ी किसी अनहोनी बात, व्यवसाय, स्थान आदि से मिलती है। इसीलिए पूरी घाटी में विशेषकर 'नगर में क्राम शुद्ध रूप से 'चिड़' की सूरत में (प्रचलित) है।'[३]

---

१. आर० के० कौल—'सोशालॉजी ऑफ नेम्स एंड निकनेम्स आफ इंडिया, विद स्पेशल रेफरेंस टु कश्मीर', पृ० ९२ पर उद्धृत।

२. वही, पृ० ९२।

३. आर० डब्ल्यु० लारेंस—'दि वेली आफ कश्मीर', पृ० ३१०।

यथास्थान चिड़ शब्द का प्रयोग सरनेम्स के लिए भी किया गया है।

इन चिड़ों की सबसे विचित्र बात यह है कि ये समाज में शनैः-शनैः मान्यता पाकर कुलनाम के रूप में प्रसिद्ध हो जाती हैं। डॉ० रमेशकुमार शर्मा[1] की कहानी 'चीख' का एक कश्मीरी पात्र कथानायक से कहता है, '' और जो आप नामों का, खासकर 'सरनेम्स' का ज़िक्र कर रहे हैं उनकी तो अपनी अलग कहानी है। हमारे समाज में नाम रखने की, चिड़ निकालने की हॉबी है। छोटी-छोटी बातों पर जो नाम रख दिये जाते हैं, वे बस चिपक ही जाते हैं, यहां तक कि फिर जिसकी चिड़ निकाली गई होती है वह भी उस चिड़ को 'सरनेम' के रूप में स्वीकार कर लेता है।'' सन् १८९१ में कश्मीर का सर्वेक्षण करने वाले एक विख्यात विद्वान[2] के शब्दों में, ''श्रीनगर में ब्राह्मण तथा मुसलमान दोनों में बिल्ली, चूहे, भेड़, गीदड़, बंदर आदि पशुओं के नामों पर तथा समान रूप से वैयक्तिक आदतों, काम-धंधों और स्थानों पर रखी गई आहत करने वाली चिड़ों का प्रचलन है।''

प्राचीन उल्लेख

कश्मीरी चिड़ों का प्राचीनतम उल्लेख हमें 'नीलमत पुराण' में मिलता है। 'नीलमत पुराण'[3] के ऐसे अनेक पात्रों के नाम, जैसे खड्गपुच्छ, हस्तिकर्ण महिष, वराह, कनकाक्ष, मूषकाद, अजकर्ण, लम्बकर्ण, अश्वकर्ण आदि ध्यान से देखने पर नाम कम और चिड़-प्रेरित अधिक लगते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी नीलमतपुराण की अनेकों चिड़ों (नामों) को समास के कर्मधारय और बहुव्रीहि नामक प्रकारों के अन्तर्गत रखकर भी देखा जा सकता है। 'नीलमतपुराण' में वर्णित ५२७ प्रमुख नागों और चार दिक्पालों के नामों के समाजशास्त्रीय अध्ययन से इस बात की पुष्टि हो सकती है कि उनमें अनेकों नाम किसी-न-किसी प्रकार से चिड़ ही हैं।

इस दृष्टि से कल्हण की राजतरंगिणी[4] का महत्त्व भी असाधारण है। इसमें कश्मीरी समाज में चिड़ों के विकासक्रम को बखूबी समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए दसवीं शताब्दी के निरजितवर्मन की चिड़ 'पंगु' थी। टेढ़े पांव वाले संग्रामादित्य (सन् ९४८-९४९) को 'वक्रांघ्री-संग्राम', क्षेमगुप्त (सन् ९५०-९५८) को 'कंकणवर्ष' और 'दिद्दाक्षेम' अर्थात रानी दिद्दा में रत रहने वाला, अभिमन्यु (सन् ९५८-९७२) को भी 'कंकणवर्ष', कलश (सन् १०६३-१०८९) के शासनकाल में एक व्यापारी को बिल्ली बेचने वाला, भिक्षु (सन् ११२०-११२१) को 'भिक्षाचार', सुस्सल (सन् १११२-११२०) को उसकी लम्बी दाढ़ी के कारण 'लम्बकुर्च', जयसिंह (सन् ११२८-११४९) को 'हिमराज' कहकर चिढ़ाया जाता था। राजतरंगिनी[5] में और भी मजेदार चिड़ें मिलती हैं। जैसे एक दरबारी ब्राह्मण को 'आस्थान ब्राह्मण' और अनन्त

---

१. वितस्ता के कथा-चरण, (कहानी संकलन), पृ० ५४।

२. एम० ए० स्टीन – कलहन्स राजतरंगिनी, भाग—१, तरंग/श्लोक – ७.२८१-२८३ (पाद-टिप्पणी), पृ० २९२।

३. वेदकुमारी कृत 'दि नीलमत पुराण, v. ii., श्लोक—९३२, ९१९, ९२०, ९२३, ८५८१, ९६७ तथा ९७६।

४. तरंग/श्लोक—५.२५३, ६.१२८, ६.१६१, ६.१७७, ६.३०१, ७.२८१, ८.८५८, ८.९०४, ८.१४४५।

५. तरंग/श्लोक —७.८५, ७.१४९, ७.१६३७।

(सन् १०२२-१०६३) के शासनकाल में निर्मित एक मठ को 'अंधमठ' कहा गया है। हर्ष सन् (१०२९-११०१) के शासनकाल में एक वेश्या मिश्का की चिड़ 'विरहभुजंगी' थी।

इसके अतिरिक्त[1] कलष (सन् १०६३-१०८९) के शासनकाल में ही ओवना (आधुनिक वुयन) के एक ब्राह्मण की चिड़ 'मुष्टि लोष्ठक' थी। बालादित्य के समय में दुर्लभ-वर्धन को 'अश्वघास-कायस्थ' कहा गया है। शंकरवर्मन (सन् ८७३-९०३) की मृत्यु एक 'श्वपाक' (कुत्ते का मांस पकाकर खाने वाली जाति) के व्यक्ति के बाण से हुई। यहां संग्रामदेव (सन् ९४७-९४९) के वरिष्ठ सर्वेसर्वा प्रवरगुप्त का कल्हणकृत वर्णन देखने योग्य है। कल्हण[2] के शब्दों में प्रवरगुप्त गोया राजा था, अतः वह घास के मैदान जैसी फैली अपनी दाढ़ी, जो ठीक किसी जवान ऊंट के बालों जैसी पीली भूरी थी, को केसरी रंग के सुगंधित लेप से चमकाता था। ऐसा व्यंग्यात्मक वर्णन करते समय लगता है कल्हण के दिमाग में यह कश्मीरी लोकोक्ति गूंजती रही होगी : गास लोव ह्शि छस द'अर – 'उसकी दाड़ी घास की गट्ठी जैसी है।'[3]

इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र की 'नरमाला' और 'देशोपदेश' भी उल्लेखनीय हैं।

पौराणिक नामों व चिड़ों में अन्तर

यदि हमें भारतवर्ष के पौराणिक पात्रों के नामों में चिड़ों को अलग से पहचानने का कार्य करना पड़े तो एक बड़ी दिक्कत का सामना करना पड़ेगा। संपूर्ण वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, पुराण आदि में वर्णित अनेकों पात्रों के नाम भ्रम में डालने वाले हैं। चिड़ लगने वाले ये नाम मूलतः कई बार ग्रहों, नदियों, ऋतुओं, नक्षत्रों, वृक्षों, पशु-पक्षियों, जातियों आदि के नाम होते हैं। क्योंकि ऐसी इस देश में प्रथा रहीं है। यहां पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि नाग, राक्षस, अज, असुर, दानव, दैत्य, निषाद, मद्र, हैहय, पिशाच, गरुड़, वृष, गौ आदि मानवेतर प्राणी न होकर प्राचीन कालिक जातियां और जनजातियां रही हैं। ऐतरेय ब्राह्मण जैसे अनेकों प्राचीन ग्रन्थों में इन लोगों का हवन-यज्ञ आदि करना वर्णित है। परन्तु इन नामों से इतर चिड़ों को स्पष्टतः देखा जा सकता है। कुछ प्रसिद्ध पौराणिक पात्रों के नाम (?) देखिए—गजानन, षडानन, अष्टावक्र, अश्वपति, छागलेय, हयग्रीव, शार्दूल, वृहदश्व, शूनशेप, शूनपूछ, शूनक, बालकी, कृष्ण, द्वैपायन (व्यास), द्रोण, अनुरु (जंघा विहीन; सूर्य के सारथी की चिड़[4]), जड़-भरत आदि।

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में और भी अनेक चिड़ें उपलब्ध हैं। गुरुकुल में प्रवेश लेने वाले छात्रों की कुछ चिड़ें देखिए—'कम्बलचाराणीयाः' (कम्बल के लोभ में चारायण के गुरुकुल में भर्ती होने के कारण), 'घृतरौढिया' (घी पीने के लिए रौढि के गुरुकुल में प्रवेश के कारण) तथा 'ओदन-पाणिनीयः' (भात खाने के लिए पाणिनी के गुरुकुल में दाखिल होने से)। इन चिड़ों का उल्लेख पातञ्जलि ने किया है।[5] रामायण काल में भी गुरुकुल में पूरे समय तक निवास न करने

---

१. तरंग/श्लोक, ७.२९७, ३.४८९, ५.२१८।

२. राजतरंगिनी, तरंग/श्लोक—६.१२०।

३. एम० ए० स्टाइनकृत कलहन्स. राजतरंगिनी, भाग—१, में तरंग-श्लोक—६.१२० की पाद-टिप्पणी से उद्धृत।

४. कल्हण कृत राजतरंगिनी, तरंग/श्लोक—८.५०

५. डॉ० सत्यप्रकाश शर्मा—प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृ० १८४।

वाले या जल्दी-जल्दी गुरु बदलने वाले छात्र को 'तीर्थंकाक' और समय से पूर्व ब्रह्मचर्य व्रत का त्याग कर आराम का जीवन बिताने वाले छात्र 'खट्वारूढ़' कहलाते थे।[1] वैदिक युग में तो भगवान शिव के लिङ्गोपासकों को 'शिश्नदेवा' कहकर चिढ़ाया गया है। यहां तक कि यजुर्वेद के शतरुद्रिय स्तोत्र[2] (तै० सं० ४१४) में वर्णित रूद्र की ये उपाधियां 'वनानां पतिः' (जंगली जातियों के राजा)। 'स्तेनानां पतिः' (चोरों के राजा), 'स्तायूनां पतिः' (ठगों के राजा), 'तस्कराणां पतिः, 'भुष्णतां पतिः' (लुटेरों के राजा), विकृन्तानां पतिः' (गलकटों के सरदार) और 'कुलुचानां पतिः' (गलीचों के सरदार) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

कश्मीर के वर्तमान कुलनामों में चिड़ों की अलग पहचान कठिन नहीं है। कश्मीरी भाषा-भाषी के लिए इन चिड़ों का मारात्मक कटाक्ष एकदम सम्प्रेषणीय है। चिड़ को 'सरनेम' के रूप में मिली सामाजिक मान्यता ने अनेकों लोकोक्तियों को भी जन्म दिया है। क्राम छा पाम के अनुसार चिड़ कोई उलाहना नहीं। एक अन्य लोकोक्ति 'हेडुन गेलुन पानस मेलुन' के अनुसार जो जिसे चिड़ाता है, वह स्वयं भी चिड़ाया जाता है। चिड़ निकालकर तंग करने को कश्मीरी में 'रेछि तुलुन' कहते हैं। 'र्यछ' कश्मीरी में चिड़ को कहते हैं।

चिड़ों के प्रकार

कश्मीरी समाज में चिड़ों की बहुतायत को कई भेदों में विभाजित कर देखा जा सकता है। श्री आर० के० कौल ने अपनी पुस्तक में लगभग सवा दो सौ चिड़ों के संग्रह को पांच खंडों में विभाजित किया है। अकेले मैंने लगभग साड़े चार सौ चिड़ों का संग्रह किया है जो अब तक संग्रहीत चिड़ों की सर्वाधिक संख्या है। मैंने इन चिड़ों के पंद्रह भेद इस प्रकार किये हैं—प्राचीन नाग-परक चिड़ें, धर्म परिवर्तितों, परावर्तितों की चिड़ें, वनस्पति-परक चिड़ें, पशु-पक्षी-परक चिड़ें, शरीर संरचना-परक चिड़ें, स्थान-परक चिड़ें, मनुष्य-स्वभाव-परक चिड़ें, परिस्थिति-परक चिड़ें, व्यवसाय-परक चिड़ें, उपाधि-परक चिड़ें, स्थान वाचक चिड़ें, जातिवाचक चिड़ें, लाघवीकृत चिड़ें, गेय-चिड़ें, और कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की चिड़ें।

इससे पहले कि चिड़ों के उक्त प्रकार अलग-अलग विवेचित किए जाएं, यहां पर यह कहना अनुचित न होगा कि कश्मीर में चिड़ों के इतिहास में एक रोचक अध्याय चिड़ों के प्रति कुछ लोगों की अरुचि और विद्रोह-वृत्ति का भी है। चिड़ों से तंग आकर उनसे पीछा छुड़ाने की एक रोचक घटना का उल्लेख पं० आनंद कौल[3] ने किया है। वासुदेव नामक एक कश्मीरी ब्राह्मण आंगन में 'तुल' अर्थात तूत का वृक्ष होने से वासुदेव तुल कहलाता था। इस चिड़ से मुक्ति पाने की दृष्टि से उसने तूत का वृक्ष कटवा दिया। परन्तु उसके दुर्भाग्य से वृक्ष का 'मोंड़' (तना) नहीं कटा। अब वह वासुदेव मोंड़ प्रसिद्ध हुआ। उसने 'मोंड़' उखड़वा दिया तो थोड़ा गड्ढा-सा रह गया, जिससे वह वासुदेव 'खुड़ा' (गड्ढा) कहलाया। उसने गड्ढा भरवा दिया तो थोड़ा टीला-सा बन गया। अब वह वासुदेव टेंग (टीला) कहा जाने लगा। तंग आकर उसने अपने संघर्ष को यहीं समाप्त किया। करीम 'ननवोट' (कोई करीम कभी नंगे पांव चला होगा), 'फरव' अर्थात बदबू चिड़वालों की भी ऐसी ही दास्तान है। एक समारोह में किसी पकवान में

---

१. डॉ० सत्यप्रकाश शर्मा, प्राचीन भारतीय संकृति एवं सभ्यता, पृ० १८४।

२. वही, पृ० २१६।

३. दि कश्मीरी पंडित, पृ० २०।

वंदवू आने के कारण निकली 'फरव' चिड़ से मुक्ति पाने हेतु उन्होंने दुबारा स्वादिष्ट पदार्थ भी खिलाए, परन्तु 'फरव' ही रहे। एक लोकोक्ति के अनुसार 'रयोश चज़ाव वनन, रेशि नाव चोलुस न तति ति' अर्थात कोई ऋषि अपनी चिड़ से मुक्ति पाने हेतु जंगल भी भागा था, वहां भी वह नाम बना रहा।

प्राचीन नाग-परक चिड़ें

प्राचीन कश्मीर में नागों की महत्त्वपूर्ण भूमिका के संदर्भ में 'नीलमत पुराण' और 'महावंश' देखे जा सकते हैं। कल्हण ने भी राजतरंगिनी में उनका उल्लेख किया है। अनेक विद्वान नागों को कश्मीर का मूल निवासी मानते हैं। कुछ भी हो, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि प्राचीन कश्मीर की जनसंख्या में नाग-वंश के लोगों का महत्त्वपूर्ण आधिक्य रहा है। कश्मीरी कुलनामों, विशेष कर चिड़ों, पर विचार करते समय मुझे 'नीलमत पुराण' में वर्णित ऐसे अनेक प्रमुख नागों के नाम मिले हैं जो आज भी ध्वनि-साम्य और भाषिक परिवर्तन के साथ कुछ विशेष कश्मीरी 'सरनेम्स' (चिड़ों) के रूप में सुरक्षित एवं प्रचलन में हैं। इन नामों में अर्थ-परिवर्तन अथवा तनिक रूप-परिवर्तन की प्रक्रिया भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए —

१. खेड़ा/(नी० पु० ९२१)/वर्तमान कश्मीरी 'सरनेम' खोड़ा/(गड्ढा),
२. लेदिर/(नी० पु० ९२१) वही/लेदु/(लीद),
३. कोटपाल/(नी० पु० ९७८)/वही/कुटवाल/(कोतवाल),
४. वाली/(नी० पु० ९३३/वही/वली/(सुराख वाले),
५. गुडः/(नी० पु० ९३४/वही/गड्‌/(?),
६. कितवः/(नी० पु० ९३५)/वही/किटवा/(छोटे पतीले),
७. सूकर/(नी० पु० ९३५)/वही/हखट/(गाय का बछड़ा),
८. योग/(नी० पु० ९३५) वही/जोगी/(जोगी),
९. लाङ्गली/(नी० पु० ९३९)/वही/लांगिर/(रसोइए),
१०. खल्वाट/(नी० पु० ९४४)/वही/कल्वाट/(कैलाश का 'शार्ट-फार्म' कल+कर्नल 'वाट'),
११. इनिटि/(नी० पु० ९४६)/वही/अनिट्य/(पकी हुई मिट्टी की थाली),
१२. मकर/(नी० पु० ९४८)/वही/मकरू/(?)
१३. काक/(नी० पु० ९४९)/वही/काक, काख/(कानपुर के निवासी, वरिष्ठ),
१४. केबुक/(नी० पु० ९४९)/वही/काबू/(कुबड़ा),
१५. माठर/(नी० पु० ९५०)/वही/मठोर/(?),
१६. करहाल/(नी० पु० ९५२)/वही/कारिहलू/(टेढ़ी गर्दन),
१७. उखोल/(नी० पु० ९५२) वही/वोखल (ऊखली),
१८. यक्ष/(नी० पु० ९५६)/वही/यछ/(यक्ष),
१९. कनव/(नी० पु० ९५७)/वही/कन्न/(चावल बीनने पर निकलने वाला छिलकेदार दाना),
२०. चम्ब/(नी० पु० ९५७) वही चम/(चमड़ा),
२१. शालीय/(नी० पु० ९६१)/वही/शाली/(धान्य),
२२. वट/(नी० पु० ९६४)/वही/वटू/(वटू गांव के),
२३. काचर/(नी० पु० ९६९)/वही/काचरू/(लाल बालों वाला),

२४. वट्टिल (नी० पु० ९६९)/वही/वातल/(भंगी),
२५. बुध/(नी० पु० ९७४)/बोद/(मूर्ख)
२६. कोकिल/(नी० पु० ९७७)/वही/कुकिल/(कोकिला),
२७. षडङ्गुल/(नी० पु० ९८७)/वही/शोंगुल/(छिगुनी वाले) आदि।

धर्म-परिवर्तितों/परावर्तितों की चिड़ें

कश्मीर के इतिहास में सन् १३३९ ई० में हिन्दू-शासन के अन्त के साथ ही बलात् धर्म-परिवर्तन और विध्वंस की जो आंधी चलनी शुरू हुई, उसकी चपेट में यहां का हिन्दू समाज बुरी तरह से आता रहा। जो हिन्दू इस्लाम धर्म में बलात् या स्वेच्छा से चले गये, उनका नया नामकरण इस्लामी परंपरा के अनुसार तो हुआ परन्तु उनके कुलनामों/चिड़ों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उदाहरणार्थ कौल, रैना, पंडित, बठ (भट्ट का अपभ्रंश), टपिलू, तांत्रे[1], शाल, टेंग, मंदल, कार, तेली, पड़र, ऋषि, शाह, मकरू, यतू (यति का अपभ्रंश), ठोकर, टाक, लोन (लावण्य[2] का अपभ्रंश), डार (दामर का अपभ्रंश) जैसे कुलनाम द्रष्टव्य हैं।

इसी प्रकार उन धर्म-परिवर्तित हिन्दुओं के मुसलमान कुलनाम भी आज तक ज्यों-के-त्यों बने रहे जो कालान्तर में इस्लाम छोड़कर अपने मूल धर्म में वापस लौटते रहे। ऐसा प्रसिद्ध है कि 'सुल्तान जैन-उल-आब्दीन (सन् १४२०-१४७०) के शासनकाल में उन हज़ारों धर्म-परिवर्तित हिन्दुओं को अपने मूल-धर्म में वापस जाने की आज्ञा दी गई जिन्हें बलात् मुसलमान बनाया गया था।'[3] सुल्तान से इस आशय की पुरज़ोर प्रार्थना शिर्यभट्ट ने की थी।[4] अन्यानेक साक्ष्यों के अतिरिक्त कतिपय कश्मीरी हिन्दू परिवारों की चिड़ों को देखने पर लगता है कि मूल-धर्म में उनके लौटने का यह क्रम पठानों के शासनकाल के बाद तक चला होगा। कुछ चिड़ें अथवा कुलनाम देखिए – 'खान', 'नास्ती', 'अखून', 'मिर्ज़ा', 'सुलतान', 'नादिर', 'मल्ला', 'पठान', 'मियां' 'सलमान', 'जवांशेर', 'वानी', 'तुर्की', 'मिराखोर', आदि।

वनस्पति-परक

कुलनाम के रूप में अन्य वनस्पति-परक चिड़ों का सृजन कतिपय परिवारों के पूर्वजों के स्वभाव, आदत, घटना विशेष अथवा व्यवसाय को देखकर हुआ है। जैसे 'मर्चवांगन' (मिर्च के समान तेज़ स्वभाव के कारण), 'हाख' (अधिकतर साग खाने के कारण), 'वांगन' (किसी भी प्रकार की परिस्थिति में 'एडजेस्ट' होने की प्रवृत्ति के कारण; 'वांगन' अर्थात् बैंगन हरेक सब्ज़ी के साथ पकाया जाता है), 'मुज' (कोई व्यक्ति किसी रोग के कारण मूली जैसा सफेद हुआ होगा या मुजगुड गांव का निवासी रहा होगा), 'हाखचर' (साग का 'वेस्ट' प्रतिदिन गली में फेंकने के कारण या हंदवारा तहसील के हाकचरपूर गांव के होने कारण; हाखचर अब अपने को

---

१. कल्हण, राजतरंगिनी, ५.२४८।
२. वही, ७.११७७।
३. प्रो० श्रीराम शर्मा, 'कन्वर्शन एंड रिकन्वर्शन टु हिन्दुइज़म, ड्यूरिंग दि मुस्लिम पीरियड, (डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर—हिस्टारिकल मोनोग्राफ नं० २, सन् १९४३), पृ० ७।
४. डॉ० त्रिलोकी नाथ गंजू—'महाश्री शिर्यभट्ट' (प्रकाशक-शिर्यभट्ट सेवा आश्रम, श्रीनगर) पृ० १५।

हकसर लिखते हैं।), 'बादाम' (बादाम का व्यवसाय या आंगन में बादाम का पेड़ होने के कारण); 'गारू' (सोपोर के कुछ प्राचीन परिवारों के सिंगाड़े खाकर निर्वाह करने के कारण; वैसे प्रायः सभी मूल-वासियों को आज भी 'गअर्य-खाव' अर्थात् सिंगाड़ाखोर कहा जाता है), 'क्रीड़' (आंगन में 'क्रीड़' नामक कंटीली बेल होने के कारण या क्रीड़ (शांगस नौगाम) गांव के होने के कारण); 'मर्च' (काली-मिर्च का व्यवसाय), 'यारू' (कुलगांव के ये परिवार देवदार-वृक्षों के झुरमुट में रहते थे), 'सस' (सस-वोपलहाख सब्ज़ी के शौकीन होने के कारण), 'गनहार' (एक अनाज विशेष का व्यवसाय), 'भाव' (फलदार वृक्षों के पौधे बेचने के कारण), 'चीखि' (खोबानी बाग वाले या इसकी लकड़ी का व्यवसाय), 'केन-'-'अ' (पानी में उगने वाला एक अस्वादिष्ट फल, किसी समारोह में खाये पकवान की तुलना 'केनओं' के साथ किये जाने के कारण यह एक व्यक्ति और उसके परिवार की चिड़ निकली, ऐसा श्री आर० के० कौल का मत है।'), 'बून्य'[२] (आंगन में 'बून्य' अर्थात चिनार-वृक्ष होने के कारण) आदि।

पशु-पक्षी परक

कश्मीरी चिड़ों में पशु-पक्षियों का खुलकर प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की चिड़ें भी बहुधा उपमा और तुलना के रूप में प्रयुक्त हुई हैं। जैसे 'गगरू' (चूहे के समान चपल-गीत या शरीर की बनावट के कारण कोई 'गगुर' अर्थात् चूहा कहलाया होगा), 'कोतरू' (मकान पर कबूतर बैठने की वजह से), 'शाल' (गीदड़ की तरह रोने के कारण), 'चरिबच्चा' (चिड़िया के बच्चे पकड़ने के कारण), 'खर' (गदहे-सा मूर्ख होने के कारण या खरयार (प्राचीन बैखरी-विहार) मुहल्ले के होने के कारण या कभी गदहों का कर-वसूल करते थे), 'कोकरू' और 'पूतू' (पंडित समाज की दृष्टि से हेय समझे जाने पर भी मुर्गे तथा चूजे पालने के कारण, कोकरू के बारे में यह भी कहा जाता है कि ये कोकरगुंड के मूल निवासी थे), 'काव' (कौवे-सा कुटिल या हंदवारा के कावपोरा के होने के कारण, डॉ० विमला कुमारी मुंशी[३] का यह कथन कि 'कश्मीर में 'काव' नाम के लोग बहुधा काले ही होते हैं' कोरी कल्पना है), 'कुकिलू (कोई

---

१. सोशालॉजी ऑफ नेम्स एंड निकनेम्स ऑफ इंडिया विद स्पेशल रेफेरेंस टु कश्मीर, पृ० ११८।

२. चिनार वृक्ष के विषय में कुछ मुसलमान विद्वानों की यह धारणा गलत है कि इसे जहांगीर (सन् १६०५-१६२७) यूनान से कश्मीर ले आया है, क्योंकि जहांगीर से बहुत पहले चौदहवीं शताब्दी में ही कश्मीरी संत कवयित्री ललेश्वरी ने निम्नलिखित 'वाख'° में इस वृक्ष का उल्लेख किया है—'केचन रेन्य छै शिहिज बूनी, नेरव नेबर त शुहुला कख', 'कइयों की पत्नियां छायादार चिनार-वृक्षों के समान होती हैं;' यह भी विचारणीय है कि यदि चिनार सच ही आयातित वृक्ष होता तो इसका अपना मौलिक कश्मीरी नाम 'बून्य' न होता। डॉ० त्रिलोकी नाथ गंजू (वितस्ता, खंड १०, अंक १, पृ० ७२) 'बून्य' को संस्कृत के 'भुवनव्यापिनी' का कश्मीरी रूप मानते हैं।

° ए० के० वांचू—'वाखे ललेश्वरी (उर्दू), पृ० २७।

३. वितस्ता के कथा-चरण (कहानी संकलन) में संकलित कहानी 'रूपसि' से उद्धृत, पृ० २६।

पुरुष आंखों में काजल लगाने के कारण 'स्वरम' कुकिल[1] कहलाया होगा, यह चिड़ प्राचीन नाग-परक प्रकार में भी वर्णित है), 'गाडू' (मछलियां 'गाड़' बेचने का व्यवसाय), 'हून' (कुत्ता 'हून' पालने या कुत्ते के समान नीचे होने के कारण), 'हस्यवालू' (किसी राज-दरबार में हाथियों की देख-रेख वाले विभाग में नौकरी करने के कारण), 'वुंह' (अर्थात् ऊंट-सा बेढब होने के कारण), 'शेर' (शेर-सा बहादुर होने के कारण अथवा कभी शेर मारने की वजह से[2]), 'हांगुल' (हर काम-धंधे में दिवालिया निकालने वाले व्यक्ति की चिड़ रही होगी[3] या हांगलगुंड गांव के रहे होंगे), 'श्वरगा' (तोते + शोगान' के समान होने के कारण), 'होंड[4] (भेडू 'होंड'-सा नाटा और मोटा व्यक्ति कहलाया होगा) 'कांटरू' (किसी व्यक्ति की चाल-ढाल 'कांटुर' अर्थात् चिड़े के समान दिखी होगी), 'बोम्बरू' (भौंरे की तरह गुंगुआने या श्यामवर्ण होने के कारण), 'किसू' (सर्दियों में बहुधा किस्यपूत' अर्थात् कनिष्टिका असाधारण रूप से विचित्र रही होगी), 'डांगरू' (किसी की पशु-वृत्ति देखकर), 'हापतू' (शरीर-संरचना की तुलना के रूप में 'हापुत' अर्थात् भालु प्रयुक्त हुआ होगा या क्रूर-स्वभाव के कारण), 'म्यव' (बिल्ली की हू-ब-हू आवाज़ करने के कारण), 'दांद' (बैल-सा हृष्ट-पुष्ट होने के कारण), 'पिस्य' (पिस्सुओं के कारण) आदि। यहां एक अन्य चिड़ 'ब्रारु' अर्थात् बिल्ली के बारे में विचार करना आवश्यक है। यह चिड़ बिल्ली के अर्थ में कतई नहीं है 'ब्रोर' तथा 'ब्रअर' शब्द संस्कृत के भट्टारक और भट्टारिका का अपभ्रंश है। भट्टारिका एक देवी का नाम है। जैसे इन कश्मीरी तीर्थों के नाम देखिए—ब्रारि-आंगन (भट्टारिका-प्रांगन, उमानगरी), सुदंब्रअर (सन्ध्यादेवी), बुदब्रअर (भेदादेवी), हार-ब्रअर (शारिका देवी), वेजब्रोर (विजयेश्वर), जौब्रोर (अवन्तीपुर के अवशेषों के पास) रानिब्रअर (रानी/राज्ञा देवी), ब्रारिमअज (मुरन, पुलवामा), खरब्रोर (कातरुस, कुलगांव), गाशब्रोर तथा महेश्वर ब्रोर (कश्मीर के पश्चिमोत्तर में दो पर्वत-श्रृंगों का नाम[5]) आदि। उक्त 'सरनेम' इसी इष्ट-देवी की पूजा-आराधना से संबंधित है। अतः 'ब्रारू' कोई चिड़ नहीं है।

शरीर संरचना-परक

मनुष्य-शरीर से जुड़ी कश्मीरी चिड़ों की संख्या भी कम नहीं है। इन चिड़ों में प्रायः सभी मानवांगों का उपयोग हुआ है। उदाहरण के लिए देखिए—'मंदल' (उभरे हुए मोटे कूल्हों को देखकर), 'होखू' (किसी दुर्बल और पतले व्यक्ति को 'होख' अर्थात् सूखा हुआ कहा गया होगा), 'कुचरू' (लम्बाई और मोटाई में असाधारण 'कुचर' अर्थात् शिश्न होने के

---

१. मेरे बचपन में भी काजल लगाने वाले पुरुषों को यह लयभरी चिड़ गा-गाकर चिड़ाया जाता था : स्वरम कुकिल वाज़वान, वोथु बुड्डा ड़ोल वाय', 'हे बुड्डे, कजरारी आंखों वाली कोकिल आई है। अतः वाज़वान का ढिंढोरा पीटो।'

२. एम० डी० फौक—तवारिखे अकवामी कश्मीर।

३. आज भी ऐसे व्यक्ति के लिए यह कश्मीरी लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'हांगल्यो करयो शुपि सीथ वाव, असलुक छुम तसली गाट मो पाव।'

४. भेड़ के रूप में होंड़ शब्द संत कवयित्री ललेश्वरी ने भी प्रयुक्त किया है—'होंड़ मारितन या कह, ललि निलवह चलिने ज़ांह'।

५. वितस्ता, खंड १०, अंक १, पृ० ५।

कारण), 'ज़क्की' (हर बात में 'ज्वोक' अर्थात् योनि या शिश्न के बाल कहने की आदत के कारण), 'लंगू' (लंगड़ाकर चलने के कारण), 'खोशू' (हर काम बाएं हाथ से करने के कारण, वैसे राजतरंगिनी[1] में खश एक जाति भी रही है), 'टपिलू' (लम्बे और अ-संवरे बालों के कारण), 'वुठ' (मोटे होंठों के कारण), 'ब्रेड्य' (मोटे अधर होने के कारण; भट्टारिकामठ[2] आधुनिक ब्रेड़मर के होने की वजह से या 'ब्रोड़' निकालकर नापसंदगी की मुद्रा दिखाने की आदत से भी यह चिड़ संभव है), 'कनचट्टू' (कान काटे गये हों जिनके; यह कुपवारा के उन मुसलमान परिवारों की चिड़ है जिनके किसी पूर्वज के कान आज़ाद नामक एक निर्दयी पठान ने काट डाले थे।[3]) 'पहलवान' (किसी व्यक्ति के सुगठित शरीर और कुश्ती लड़ने-लड़वाने की रुचि के कारण), 'त्रम्ब्रू' (चेहरे पर चेचक के दाग होने से), 'बुड़ा' (सोपोर के एक मुसलमान परिवार की चिड़; कारण—कोई जवानी में वृद्धों की तरह चलता-फिरता और सोचता-समझता था), 'बुज़ू' (वृद्धाओं की तरह व्यवहार करने के कारण), खोसा[4] (खोसा होने के कारण), 'वोंगू' (विकलांग व्यक्ति की चिड़), 'लटू' (ऐसे मुसलमान परिवारों की चिड़ जिनका कोई पूर्वज आरोप लगाने में, जिसे कश्मीरी में 'लोट अनुन' कहते हैं, निपुण था), 'मुशरान' (बदसूरत और बेढब व्यक्ति की चिड़), 'शोगाली' (प्रसिद्ध पठान गुलशगाली जैसे कद्दावर और हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को 'शोगाली' कहकर चिढ़ाया गया होगा), 'मोटा' (मोटापे के कारण), 'रोगा' (शारीरिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्ति होने के कारण) आदि।

इसी प्रकार 'खरू' (गंजा), 'ज़रू' (बहरा), 'दराज़' (लम्बू), 'तुत' (लम्बी ठोड़ी), 'छोटा' (ठिगना), 'कलू' (गूंगा), 'निक्का' (प्यार से बच्चे को कहते हैं। कोई व्यक्ति बड़ा होने पर भी बच्चों जैसी आदतों के कारण 'निक्का' कहलाया होगा), 'पडर' (घोड़े के खुर जैसा किसी का पांव विकृत रहा होगा), 'जतू' (यतू का रूपान्तर तथा बालों से भरे बदन वाले की चिड़), 'यड़' (अर्थात् पेट, पेटू व्यक्ति या तोंद जैसी पेट होने के कारण), 'दूधा' (दूध जैसा गौर-वर्ण होने के कारण) आदि चिड़ों का सृजन हुआ है।

स्थान-परक चिड़ें

देहातों से आकर श्रीनगर में लोगों के बस जाने का क्रम प्राचीन है। अनुमानतः श्रीनगर में श्रीनगर के मूल निवासी शायद ही बीस प्रतिशत से अधिक हों। इसलिए लोगों के मूल गांव के नाम से बनी अनेकों चिड़ों के 'सरनेम' बनने की प्रक्रिया भी कोई उलझी हुई नहीं है। उदाहरण के लिए—'केलम' (केलम गांव के), 'हलू' या 'हाली' (हाल गांव), 'बिचारी' (बिचारनाग के), 'ठुसू' (ठुस कुल गांव के), 'सोपोरी' या 'शिवपुरी' (सोपोर के), 'सुम्बली', 'पांपोरी', 'हरमेन', 'कुंज़रू', 'त्रिचल', मुंवी' (बुमई के), 'चकुरू', 'नाद', 'डांजी', 'बालहामी', 'बामज़यी'

---

१. तरंग/श्लोक—१. ३१७।
२. कल्हण, राजतरंगिनी, तरंग/श्लोक—६.२४०।
३. आर० डब्ल्यू० लारेंस—दि वेली आफ कश्मीर।
४. खोसे लोगों को जम्मू में भी सताने की प्रथा रही है। स्वयं मैंने भी बचपन में लंगोटिए मित्रों के साथ एक दोस्त शमशेरसिंह को उसके खोसे पिता की यह चिड़ सुना-सुना-कर तंग किया है—'खोसा कुक्कड़ ग्रां दा!' वह प्रत्युत्तर में कहता—'खसम तेरी मां दा!'

(बुमजुव), 'क्राल' (क्रालखुड, क्रालगुंड, क्रालयार, क्रालपुर), 'बान' (बान गांव), 'खय' (नाविदखय), 'कार' (कारिहामा) आदि स्थान-परक चिड़ों की सृजन-प्रक्रिया स्वतः स्पष्ट है।

इसी प्रकार कुछ अन्य चिड़ें इस प्रकार हैं - 'मदन' (मदनयार श्रीनगर के, राज० ७.२९८—३०२ तथा ७.५७९ में मदन एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में वर्णित है, कहीं ये 'मदन' उसी के वंशज तो नहीं !) 'छचंबली' (छत्ताबल), 'नगरी' (हंदवारा में एक गांव), 'क्योमू' (क्योम, कुलगांव), 'पारिमू' (अपारिम अर्थात् पार के यानि पीर-पंचाल के उस पार के), 'पूरबी' (कश्मीर के बाहर का परिवार), 'गंज़' (गंज़खोड़ मुहल्ला), 'कछिव' (कछिवा), 'रावल' (रावलपिंडी या रावलपोर श्रीनगर), 'वीरा' (वीरुआ), 'रांगरू' (रांगर), 'वारिकू' कुपवारिक्य/हंदवारिक्य या किसी अन्य 'वारी' (वारिका के), 'गीरू' (गीरू गांव), 'गंग' (दूध गंगा के निकट रहने वाले), 'बिंदरू' (बिंदराबन 'वृन्दावन' से जैन-उल-आब्दीन के राज्यकाल में लौट आए कश्मीरी परिवार), 'खार' (खारगुंड के), 'डेम्बी' और 'जबू' (दलदल के पास रहने के कारण), 'ठठू' (पुल के आधार के पास बसने के कारण या अक्सर मार्ग भूल जाने के कारण जिसे कश्मीरी में 'ठठ्य लगुन' कहते हैं); कदल बुज़ू (अर्थात् पुल के पास बसने से 'बुज़ू' परिवार की चिड़), 'सपरू' (सपर कुलगांव के निवासी, डॉ० इकबाल भी इसी वंश के ब्राह्मण-परिवार से सम्बन्धित थे), 'सुम' (पुलिया के पास बसने के कारण). 'शफिज', (शियाओं के मुहल्ले में रहने से), 'सथू' (सथू परिवार के मूल निवासी); इसी प्रकार 'शार' (विही क्षेत्र में एक गांव)[1], 'द्राबू' (द्राभग्राम या द्रावीयार निवासी) तथा 'खुडवली' (प्राचीन क्षुरिकाबल[2], चंदपोरा हब्बा-कदल) के हैं।

मनुष्य-स्वभाव परक

कश्मीरी चिड़ों में मनुष्य की आदतों तथा उसकी मनोवृत्तियों को लेकर बढ़िया अंकन हुआ है। जैसे 'चकू' (किसी व्यक्ति के चिड़चिड़े स्वभाव के कारण उसकी चिड़ 'च्वोक' अथवा कड़ुवा निकली), 'शुराबी' (शराब के पीने का आदी होने के कारण), 'मत्तू' (मस्ताना दिखने के कारण), 'वांचू' या 'वांटू' (कृपण-वृत्ति के कारण, दोनों शब्द समानार्थी हैं), 'माम' (प्रत्येक काम में टांग अड़ाने की आदत के कारण), 'चृंगू' (कृपण-वृत्ति का सूचक, 'चृोंग' कश्मीर में मुट्ठी-भर वजन को कहते हैं), 'गुरटू' (गौर मिट्टी के रंग का, वर्तमान में विशिष्ट रीति-रिवाजों के कारण ब्राह्मणों की एक जाति-विशेष), 'चालाख' (चतुराई के कारण), 'दंदर' (वाचाल-वृत्ति के कारण, टैंकीपोरा के एक मुसलमान परिवार की चिड़) 'चेंचा' ('माम' का समानार्थी), 'त्रकरू' (कठोर स्वभाव वाला), 'डासी' (अपव्ययी व्यक्ति), 'देवा' (दैत्य-सा दिखने वाला), 'वोखा' (शारीरिक और मानसिक दृष्टि से विचित्र) तथा 'मिस्कीन' (असहाय या अनाथ) आदि।

परिस्थिति-परक

किसी परिस्थिति अथवा घटना विशेष से जुड़ी कश्मीरी चिड़ों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सबको यहां विश्लेषित करना संभव नहीं। अतः यहां विवेच्य चिड़ों के आगे कोष्ठक

---

१. एम० ए० स्टीन, कल्हन्स राजतरंगिनी, १-१०० (पाद टिप्पणी), पृ० १९।

२. राज० ३.३४७।

में उनके सृजन के प्रेरणा-स्रोत का संकेत दे रहा हूं। यथा 'थाल चूर' (थाली चोर), 'चौंग' (दिया—यह मेरे प्रपितामह की चिड़ निकली है; वह माथे पर दिये की लौ जैसा तिलक किया करते थे), 'मन्टू' (डेढ़ सेर—इस वज़न का कोई भोज्य-पदार्थ बतौर शर्त खा जाने पर), 'डुलू' (तसलेनुमा पीतल का बर्तन; पड़ौस में विवाहादि अवसरों पर ये बर्तन उधार देने के कारण), 'मुतुर्य' (बार-बार पेशाब करने वाला, गोशबुग गांव के एक परिवार की चिड़), 'गुस' (विष्ठा—यह गोशबुग और श्रीनगर[1] के कुछ परिवारों की चिड़ है। संभवतः ये परिवार रामुह से दो मील दूर खानपुर सराय के रास्ते पर स्थित 'गुस-वुडूर' प्राचीन 'गुसिकोड्डर'[2] से कभी श्रीनगर या दूसरे स्थानों पर चले आए हों), ज़हरबाद' (एक विशेष फोड़ा 'कार्बंकल'), 'थपलू' (झपटा मारने वाला चोर), 'अनीमा' (चावल का मांड—ये लोग गरीबी के कारण कभी मांड पीते थे), 'गान' (वेश्या-वृत्ति से धनोपार्जन करने वाले), 'क्रंडू' (खाने का तेल मापने वाला चमचा, कृपण-वृत्ति से क्रंडू-भर तेल उधार देने के कारण), 'जाला' (रैनावारी के मछेरे इनके मकान की दीवारों पर अपने जाल लटकाते थे), 'तबरदार' (घर में बड़ा कुल्हाड़ा था; इस कारण), 'काठ' (आंगन में जलाने के लिए सूखी टहनियों का ढेर रहता था या 'काठुल'[3] काठलेश्वर मुहल्ले के रहे होंगे), 'धोबी' (धोबियों के मुहल्ले में रहने के कारण कुछ हिन्दू परिवारों की चिड़), 'तरोज़दार. (तराजू घर में था, इस कारण), 'ब्रेठ' संभवतः कभी मुसलमान, अंग्रेज़/बोहरों के साथ खाना खाने के कारण 'ब्रेठ' (अथवा भ्रष्ट का अपभ्रंश) का सृजन हुआ होगा या किसी व्यक्ति के सठिया जाने पर भी निकली हो, ऐसा भी संभव है), 'वेलचा' (घर में वेलचा था, इस कारण) आदि।

बिजली के आविष्कार से पूर्व लोग सायंकाल को गली-मुहल्ले में राह गुज़रों के लिए दीपक जलाये रखते, ऐसे ही एक परिवार की चिड़ 'चरागी' निकली। 'टाक' चिड़ का मिट्टी के 'टोक' (थाली) से कोई सम्बन्ध नहीं। यह एक प्राचीन जाति का नाम[4] है। 'टक' वेजबोर में एक मुसलमान परिवार और सोपोर में बोहरा हिन्दुओं का 'सरनेम' है। बहूलर[5] इन्हें टक्कदेश का मानते हैं। 'ज़ार'/'जारू' (जुआरी), 'मिडिल' आठवीं पास करने वाले प्रथम कश्मीरी पण्डित शिवजी उर्फ 'शव-मिडिल' के परिवार की चिड़), 'नलिचा' (सदा 'नलिचा' अर्थात् हुक्का पीने पर यह चिड़ निकली है; श्रीनगर और यारीपोरा, कुलगांव के कुछ मुसलमान परिवारों का सरनेम), 'सखी' (किसी नाटक में सखी का रोल करने पर एक व्यक्ति और बाद में उसके परिवार का सरनेम ही सखी हो गया), 'पेशिन' (दोपहर तक सोने के कारण या दोपहर को प्रायः कोई काम न करने के कारण), 'पुरान' (पुरान पंथी), 'जद' (अपने को बुजुर्ग जतलाने वाले किसी व्यक्ति के परिवार की चिड़), 'मैगज़ीन' (कभी कोई पत्रिका निकाली हो), 'पचगरू' (लकड़ी के फटों से बने मकान वाले), 'काक' यह भी एक प्राचीन या योद्धा परिवार रहा है[6]।) 'वाट' (अकाल के दिनों मक्की के आटे का बना 'वाठ' खाने के कारण); 'गड़वा' (किसी व्यक्ति

---

१. आर० डब्ल्यू लारेंस—'दि वेली ऑफ कश्मीर'

२. श्रीवर, जैन-राजतरंगिनी, ४.४६५, ५३२, ५९२, ५९६

३. कल्हण, राज० ८.११६९, ११७१, ११७२

४. वही, ७.४१४

५. एम० ए० स्टीन, कल्हन्स राजतरंगिनी; ७.४१४ (पाद-टिप्पणी), पृ० ३०१

६. वही, ७.१३११

के हाथ में सदा 'गड़वा' रहता होगा), 'गड्डा' (इनके बारे में भी ऐसा ही कुछ प्रचलित है), 'मुसा' थकान के बाद विश्राम करने वाले; दिल्ली, पंजाब आदि स्थानों में अपने यजमानों के पास आने-जाने वाले मट्टन के कुछ पंडों की यह चिड़ है)।

इसी प्रकार 'गासी' (गैस-लैम्प रखने वाले परिवार को गासी परिवार कहा गया), 'मेंगन' (भेड़ों-बकरियों की लीद से आंगन भरा रहने के कारण), 'अलकौसर' (दवाखाना 'अल-कौसर के मालिकों की चिड़), 'डगा' (शौचालय में विष्ठा हेतु लकड़ी का बना डिब्बा टट्टी से बाहर सरक आया करता था), 'सीरू' (ईंटों की भट्ठी वाले), 'छारू' (प्राय: अपचन के कारण दस्त करने वाले एक पण्डित और उसके परिवार की चिड़), 'केलू' (एक विशेष प्रकार की रुई का व्यवसाय करने के कारण), 'तबची' (घर में विशेष प्रकार की हांडियां (तबची) होने के कारण), 'राजा' (किसी राजवंश से सम्बद्ध होने से), 'परिवारी' (जिनका बहुत बड़ा परिवार था). 'सेसू' (पत्नी की वेश्यावृत्ति पर जीने वाला पुरुष), 'वंगरू' 'जिनके मकान के बाहर 'बांगिर' अर्थात् मांग् बंजारे हर वर्ष आकर बैठते थे); 'किरा' 'चिड़ वालों के बारे में प्रसिद्ध है कि इनका कोई पूर्वज क्रिश्चियन (किरअ) बन गया था। परन्तु किरों का एक जाति के रूप में कल्हण[1] का उल्लेख कुछ और संकेत देता है। एम० ए० स्टीन[2] को भी वराहमिहिर की बृहत संहिता (१५.२९) में वर्णित उत्तर-पूर्व में स्थित कश्मीरियों, आभिसारों तथा दरदों के समान ही किरा भी एक जाति ही लगती है।) 'गोसानी' (इनके परिवार में कभी एक 'गोसानी' अर्थात् जोगी ठहरा था), 'बेछा' (सपर कुलगांव के इस मुसलमान परिवार का कोई पूर्वज भिखारी था)।

व्यवसाय-परक

विभिन्न प्रकार के व्यवसाय-धन्धों से जुड़ी चिड़ों की संख्या भी बेशुमार है। जैसे 'मोज़ा' 'मिच्चू', 'हख', 'तेली', 'सराफ', 'गोंदनू' क्रमशः जुराबें, मिट्टी, सूखी लकड़ी का चूरा, तेल, सराफी तथा फूल बेचने के व्यवसाय से निकली चिड़ें हैं।

'कुली' (अफगान गवर्नर 'टरकुली खां' और 'नूरकुली खां' के अधीन नौकरी करने के कारण[3], 'कांगू'/'कानूनगो' (अदालत से सम्बन्धित होने पर), 'हकीम' (चिकित्सक), 'ज़राबी' (सरकारी खज़ाने का कर्मचारी), 'ज़ाफरानी. (केसर बेचने वाला), 'खतरी' (पंजाबी 'खतरियों' के साथ व्यवसाय करने के कारण), 'खचू' (खोच अर्थात् बिना छत की एक बड़ी नौका-विशेष की कर-वसूली को ही आर० के० कौल इस चिड़ का प्रेरणा-स्रोत समझते हैं), 'आरम, (सब्जी उगाने वाले); 'गूरू' (ग्वाल), 'बकाया' (शेष रकम की वसूली करने वाला अधिकारी या दुकानदारों के यहां पैसा बकाया रखने वाला), 'मनवटी', 'गुज़खान', दोनों चिड़ों का सम्बन्ध कर-वसूली से है।

अन्य कुछ चिड़ें इस प्रकार हैं—'बक्शी' (पंजाबी अधिकारी का सहायक तथा कानि-हामा, मागम के एक परिवार की चिड़ केवल इसलिए क्योंकि वे कश्मीर के पूर्व प्रधान मन्त्री

---

१. कल्हण, राजतरंगिनी, ८.२७६७

२. कल्हण, राजतरंगिनी, भाग २, पृ० २१७ (पाद-टिप्पणी),

३. आर० के० कौल—दि सोशालॉजी ऑफ नेम्स एण्ड निकनेम्स ऑफ इण्डिया, विद स्पेशल रेफरेंस टु कश्मीर, पृ० १०२

बक्शी गुलाम मुहम्मद की पार्टी के समर्थक हो गए थे), 'नारू' (नेहरू का ही रूप, सिंचाई कर्मचारी की चिड़ रही होगी, पं० जवाहरलाल नेहरू के पूर्वज राज कौल भी अपने साथ यही चिड़ उत्तर प्रदेश ले गये थे। वे दिल्ली में नहर पर बसने के कारण उर्दू के प्रभाव में नेहरी कहलाते, नेहरू नहीं। जैसे जालंधर, लखनऊ, अहमदाबाद का जालंधरी, लखनवी, अहमदाबादी होता है न कि जालंधरू; लखनवू, अहमाबादू आदि। यह केवल कश्मीर में ही हो सकता है। जैसे—'काठजू', 'चोगातू', 'सपरू', 'गंजू' आदि।[1]

कुछ अन्य प्रमुख चिड़ें हैं—'वज़ीर' (मन्त्री), 'वाज़ा' (बावर्ची), 'लंगर', 'लांगरू' (किसी शाही रसोई का कर्मचारी), 'तुर्की'[2], 'मिस्री', 'कन्दारी' (इन देशों के व्यापारियों से सम्बद्ध होने के कारण), 'अम्बारदार', और 'चकबस्त' (राजस्व और हिसाब रखने से सम्बन्धित चिड़ें हैं। मुगलों के राज्य में शाही कोष के अधिकारी को 'फोतेदार' कहते थे। कुछ विद्वान 'फोतेदार' को 'पोद्दार' का अपभ्रंश मानते हैं।) 'वुगरा' (अब 'ओग्रा' लिखने वाले इस परिवार का कोई पूर्वज अकाल-पीड़ितों में खीर-सरीखा नरम-भत्ता बांटने के कारण 'वुगरा' प्रसिद्ध हुआ।[3] 'नाला' (इस परिवार का कोई पूर्वज किसी नदी-नाले का रखवाला रहा होगा। श्रीनगर में इस नाम का कोई परिवार नहीं है[4]।) 'बज़ाज़' (कपड़ा विक्रेता), 'मुठू' (सोयाबीन का व्यवसाय), 'दरबारी' (किसी राज-दरबार से सम्बद्ध), 'भण्डारी' (किसी सरकारी वस्तु-भण्डार का कर्मचारी); 'कोठा' (किसी माल-गोदाम का कर्मचारी; कल्हण ने इस शब्द को राजतरंगिनी में बार-बार लोहरकोट्ट के 'शार्ट-फार्म' के रूप में प्रयुक्त किया है[5]), 'चोगातू', 'दुरानी', 'चक' (यह एक योद्धा जाति भी रही है[6]), 'खेबरी', 'अरज़बेग', 'हज़ारी' आदि चिड़ें विभिन्न पठानों के अधीन नौकरी करने से निकली हैं।

'खज़ांची' (कोषाधिकारी), 'ज़ालपुरी' (आर० के० कौल के अनुसार ज़बिस्तान के व्यापारी) 'लाल' (लाला दिखने के कारण), 'करवानी' ('करा' बेचने के कारण), 'रज़गुरु' (रस्सियां बेचने के कारण), 'नगारी' (मुगल काल में नगारा बजाने वाला कर्मचारी), 'कलपूष' (महिलाओं की टोपी-विशेष बेचने के कारण), 'दाल' (दलाल), 'तुफची' (तोपची), 'मिराखोर' (शाही घोड़ों की देखभाल करने वाला), 'शोरा' (बारूद की देखभाल करने वाला), 'नकाबी' (कातिब), 'चौधरी' (चौधरी), 'कंपासी' (फोटोग्राफी का व्यवसाय करने के कारण) 'तोशखानी' (तोशखाने का अधिकारी), 'पटवारी' (पटवारी), 'डोगरा'[7] (डोगरा राजाओं के अधीन काम करने वाले लोलाब के कुछ परिवारों की चिड़) 'शकदर' (सेब के बाग का रखवाला), 'नरवासी' (कांसे का कश्मीरी प्याला 'खोस' बनाने वाला), 'तमाकू' (तमाकू

---

१. आर० के० कौल, दि सोशालॉजी आफ नेम्स एंड निकनेम्स आफ इंडिया, विद स्पेशल रेफरेंस टु कश्मीर, पृ० १०५
२. कल्हण, राजतरंगिनी, (८.८८५) में इन्हें तुरुष्क कहा गया है।
३. आर० के० कौल, दि सोशालॉजी आफ नेम्स एंड निकनेम्स आफ इंडिया, विद स्पेशल रेफरेंस टु कश्मीर, पृ० १०६
४. एम० डी० फौक, तवारीखि अकवामी कश्मीर
५. एम० ए० स्टीन, कल्हण राजतरंगिनी, भाग १, ७.१४५२ (पाद-टिप्पणी) पृ० ३८१
६. वही, ७.१८६-१८७ (पाद-टिप्पणी), पृ०२८३
७. डब्ल्यू० आर० लारेंस—दि वेली ऑफ कश्मीर

बेचने के कारण), 'काशकारी' (काश्तकार), 'कोठेदार' (भेड़-बकरियों के ठेकेदार या उनसे कर वसूली करने वाला), 'सि (च्'दर्जी), 'कांदरू' (नानवाई) आदि।

उपाधि-परक

विवेच्य चिड़ों में धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक या दरबारी उपाधियों से सम्बंधित कश्मीरी कुलनामों की संख्या अधिक नहीं है। कुछ प्रमुख चिड़ें इस प्रकार हैं – 'राज़दान' (राजानक[1] का अपभ्रंश, जिसके बारे में एक विद्वान[2] का मत है कि राजानक का शाब्दिक अर्थ है, 'लगभग राजा ही' यह राजा को प्रदत्त सेवा के लिए दी जाने वाली उपाधि थी। यह उपाधि आज भी अधिकांश ब्राह्मणों में 'राज़दान' के रूप में सुरक्षित है।') 'सिद्धा' (मट्टन, अनन्तनाग और गणपतयार श्रीनगर के कुछ परिवारों की चिड़ कहा जाता है कि इनका कोई पूर्वज सिद्ध-पुरुष था। इन परिवारों का सिद्ध-सम्प्रदाय से सम्बन्ध भी संभव है), 'गरीब' (सोपोर के इस परिवार के किसी पूर्वज, जो कवि था, का उपनाम था), 'साहेब' (संतों की उपाधि, पुरुषयार श्रीनगर में साहिब कोल इस वंश में प्रसिद्ध संत हुए हैं; संत कवयित्री रूपभवानी को भी साहिब कहा जाता है; कश्मीर में 'साहिब-सप्तमी' का दिन (आश्विन कृष्ण सप्तमी) बतौर रूपभवानी-पुण्यतिथि मनाया जाता है। चश्मा-साहिब (चश्माशाही के पास ही एक तीर्थ भी है), 'पीर' (प्रसिद्ध संत ऋषिपीर के वंशज), 'तिक्कू' ('त्रिक' शब्द से बना 'तिक्कू' 'त्रिपुरा भगवती' के उपासकों की चिड़ है, द्राबीयार हब्बाकदल में एक तिक्कू-परिवार में प्रतिवर्ष माघ शुक्ला चतुर्थी को 'तिक्य-चोरम' अर्थात् त्रिपुरा-चतुर्थी धूम-धाम से मनाई जाती है। परन्तु कल्हण[3] ने 'बृहत्तिक्क' तथा 'सूक्ष्मतिक्क' इन इतिहास पुरुषों का वर्णन किया है जो 'तिक्कू' शब्द की दृष्टि से विचारणीय है।

उपाधि-परक कुछ अन्य चिड़ें हैं – 'शायर' (कवि), 'दास' (दास्यभाव के कारण, श्रीनगर के अतिरिक्त बुमई सोपोर में तो पूरा एक मुहल्ला ही दासपुर कहलाता है), 'मांतू' (महंत का अपभ्रंश), 'दर' (कई विद्वानों के अनुसार ये राजतरंगिनी में वर्णित 'दामर' जाति का अपभ्रंश हैं), 'वैष्णवी', 'वेशिन' (वैष्णव-भक्त होने के कारण), 'कर्नेल' (सेना में भर्ती होने पर एक परिवार के पूर्वज की चिड़), 'काज़ी' (पठान-युग में न्यायाधीश), 'महलदार' (मुहल्ले के वरिष्ठ अधिकारी), 'गंजू' (खज़ाने का अधिकारी; कल्हण[4] भी 'गंजवर' का प्रयोग करता है), 'आचार्या' (आचार्य), 'चंदर' (चान्द्र), 'ज़ुत्श' (ज्योतिषी का अपभ्रंश), 'ठोकर' (ठाकुर का अपभ्रंश, कल्हण[5] ठाकुर को एक उपाधि के रूप में वर्णित करता है) आदि।

स्थानवाचक चिड़ें

कश्मीरी चिड़ों का यह प्रकार भी रोचक है। घाटी के कुछ स्थान वहां के लोगों की आदतों, विशेषताओं के कारण चिड़ों के संदर्भ में भी प्रसिद्ध हो गये हैं। जैसे अपनी झगड़ालू और

---

१. कल्हण, राजतरंगिनी, ७.११७
२. एम०ए० स्टीन, कल्हण राजतरंगिनी, भाग १, ७.११७ (पाद-टिप्पणी); पृ० २४४
३. कल्हण, राजतरंगिनी, ८.५२२
४. वही, ५.१७७
५. वही, ७.२९०

राजनैतिक वृत्ति के लिए 'सोपोर' को 'हज़रते सोपोर' कहा जाता है। सोपोर के लोगों की अतिथि आवभगत को 'सोपूर्य-माज़रथ' कहकर चिढ़ाया जाता है। प्रसिद्ध है, यह लोग अतिथि का सत्कार इन शब्दों में करते थे कि गरम-गरम चावल तो बन रहे हैं, उसकी तुम प्रतीक्षा करोगे नहीं। बासी चावल तुम खाओगे नहीं। इसलिए अच्छा है बाज़ार से सिंघाड़े खरीदो और चले जाओ।' मुझे बताया गया है कि हिमाचल प्रदेश में भी अतिथि से ऐसा ही कहा जाता था, 'वैसे चाय भी तैयार है, बाहर गाड़ी भी तैयार है।' दरभंगा-बिहार के बारे में भी ऐसा ही प्रसिद्ध है कि जब अतिथि जाने लगता तो गृहस्वामिनी आंगन के दरवाज़े पर खड़ी होकर कहती, "अहां के जलखई नै करबै की?" अर्थात् आप जलपान नहीं करेंगे क्या? अनन्तनाग के लोगों को 'मराज्य ठग' कहकर चिढ़ाया जाता है। बारामुला के लोगों की चिढ़ इस प्रकार है; 'दु दिल दह ज़बान बाह मुंह' अर्थात् इनके दो दिल, दस जीभें और बारह मुंह (बहरूपिये) होते हैं। किसी महामूर्ख व्यक्ति के प्रति आज भी कहा जाता है कि बेचारा 'सदरकूट' या 'चार्यपथर' का निवासी होगा। इस तरह 'सदरकूट' और 'चार्यपथर' (इस गांव का नाम कश्मीर के पूर्व प्रधानमंत्री बक्शी गुलाम मोहम्मद ने इसी कारण बदल दिया था), दोनों गांव मूर्खता के लिए याद किये जाते हैं। गोशबुग गांव में मैंने तीन स्थानों के बारे में एक लयबद्ध चिढ़ सुनी है, जो इस प्रकार है—'सुंबल सोपोर पलहालन, मथ छुभ गछान वुन्य ज़ालन' अर्थात् जी करता है कि सुंबल, सोपोर और पलहालन इन तीनों को अभी जला डालूं।' मट्टन (अनन्तनाग) में भी मैंने इसी प्रकार की एक चिढ़ सुनी है जिससे तीन गांव की मानसिकता का संकेत मिलता है। राह बैठे एक अंधे भिखारी पर जब किसी आदमी ने कंकर मारा तो उसकी प्रतिक्रिया, जो अब चिढ़ बन गई है, इस प्रकार थी—'बट आसख त ओकुर्युक, मुसलमान आसख त होखर्युक, राफिज़ आसख त वोकर्युक अर्थात् तुम यदि हिन्दू हो तो जरूर आकूरा (मट्टन) के हो, यदि मुसलमान हो तो होखुर (कोकरनाग) के हो, यदि शिया हो तो ज़रूर वोकुर (सफापोर) के हो।

इसके अतिरिक्त ग्रामीण व्यक्ति को 'गाम-बट', 'गाम डंगुर', 'काखलाल', 'गाम बबुल' और शहर के निवासी को 'शाहरुक रतखोर' (झगड़ालू), 'ताल-जोविल्य' (शहरी नज़ाकत। बारीकियों से बोलने वाले), 'अल-शाहरुक' (कद्दू खाने वाले शहरी) कहा जाता है। एक अन्य चिढ़ के अनुसार 'गामकिस गय त्रामुख नस, फश गल्य न, खश, छेन्यस न' अर्थात् ग्रामवासी इतना निर्लज्ज है कि जैसे उसकी नाक ताम्बे की बनी होती है जो रगड़ने से घिसती नहीं, काटने पर कटती नहीं। एक अन्य चिढ़, जिसे ग्रामीण और शहरी दोनों एक-दूसरे के लिए कहा गया बताते हैं, इस प्रकार है—'आखय त ओनुथ क्या, यिमयै ते ख्यावह्म क्या' अर्थात् आये हो तो लाये क्या हो, यदि तुम्हारे यहां आऊं तो खिलाओगे क्या?

जाति वाचक चिढ़ें

इस कोटि में रखी जाने वाली चिढ़ों में हमें विभिन्न स्थानीय जातियों के लोगों का चित्रण मिलता है। जैसे कश्मीरी मुसलमान किसान को 'च़ुखांट्याल' कहकर चिढ़ाया जाता है। वह क्योंकि एक विशेष प्रकार की चौतरफा टोपी पहनता है, जिसे किसी भी ओर से पहना जा सकता है। अर्थात् उसकी कोई एक दिशा-विशेष (ईमान) नहीं होती। अर्थात् उसका ईमान नहीं होता।

कश्मीरी हिन्दूओं को मुसलमान 'दालि-बट' (दाल खाने वाला भट्ट; वैसे यह 'दयालु-

का अपभ्रंश है), 'यंग-फख' (हींग की दुर्गन्ध), 'वांगुन' (बैंगन, 'एडजेस्टेब्लिटी' के कारण) कहकर चिड़ाते हैं। बताया जाता है कि पं० जवाहर लाल नेहरू ने कभी कश्मीरी हिन्दू के बारे में कहा था कि एक कश्मीरी हिन्दू डेढ़-कांग्रेस के समान होता है। कश्मीरी हिन्दू की देश की राजनीति पर चर्चा-परिचर्चा को 'बट-गेजेट' कहा जाता है। इसी प्रकार मुसलमान को कश्मीरी हिन्दू 'रोहन फख' (लहसुन की बदबू), 'मलेच्छ' 'मोमा' 'साई-ब्योल' (बिच्छू-बूटी की फसल) आदि कहकर चिढ़ाते हैं। सिखों को 'ज़व-सिख' (जिसके सिर में जुएं हों), कश्मीरी बोहरों को 'लेजि-बट', (पठानों के आक्रमण काल में धर्मांतरित होने पर भी इन्होंने मुसलमानों के साथ खान-पान से परहेज़ करने हेतु हांड़ियों में खाना पकाया था, अतः 'लेजि-बट' कहलाए। कश्मीर में हांड़ी को 'लेज' कहते हैं)। पनघट पर बतियाने वाली महिलाओं की चिड़ 'यारबल्य काकिनि' है। पठानों की चिढ़ 'खर-पठान' भी बहुत पुरानी है। भारत के सत्तारूढ़ अथवा विपक्ष के राजनेताओं के लिए कश्मीरी चिड़ें हैं—'धोती प्रशाद' और 'राज़माह-दाल'। कश्मीर के पूर्व प्रधानमंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद के दिनों में 'कश्मीर मिलिशिया' की दो चिड़ें थीं—'कुंत्रीह पंदाह' (अर्थात २९ रुपये १५ पैसे, यह इनका वेतन हुआ करता था) और खोफतन फकी' (रात को विचरने वाले फकीर)।

लाघवीकृत चिड़ें

कश्मीरी में नामों को छोटा कर उनके साथ चिड़ जोड़ने की भी प्रवृत्ति है। जैसे एक स्कूल-विशेष का बैंड-मास्टर निरंजन नाथ 'नेरबैंड', एन० सी० सी० अध्यापक जानकी नाथ 'जान-मिल्ट्रि' सूखी मछली 'होगाड'-सा लगने वाला जवाहर 'जव-होगाड', प्रथम मिडिल पास शिवराम 'शिव-मिडिल', कोइला बेचने वाला पुरुषयार का सतलाल 'सत चिन', प्रायः 'पेन्ल्टि' शब्द कहने के कारण एक अध्यापक सोनकौल 'सोन कोलिन पेनलटी' कहलाया। इस प्रकार 'एक सज्जन ने सबसे पहिले अचकन पहिनना आरम्भ किया, उसका नाम था तेज किशन कौल, उन्हें कुछ लोगों ने तेज अचकन कहना आरम्भ किया आज उनकी दुकान का नाम है 'अचकन एन्ड सन्ज'।'[1]

गेय चिड़ें

गेय चिड़ों से अभिप्राय उन चिड़ों से है जिन्हें उचित प्रसंगों पर गा-गाकर सुनाया जाता है जैसे 'छोटिस नै अकल आस, ज़ीठिस क्या गव' अर्थात् यदि नाटा व्यक्ति बुद्धिमान न निकला, तो लम्बे ने भी कोई कौशल नहीं दिखाया। 'कूर काचुर त मछटेचल, दुश्मने पैगम्बर' के अनुसार काइयां, लाल रंग के भूरे बालों वाला तथा दागों से भरा चेहरे वाला व्यक्ति सच्चाई के शत्रु होते हैं। इन लोगों को ऐसा कहकर चिड़ाया जाता है। एक अन्य चिड़ है – 'खश्रर खच खिगरि त लागितोस बुंगरि' अर्थात् गंजी औरत 'खिगरी' (?) चढ़ी है अतः उसे चूड़ियां चढ़ा लो। नाटे व्यक्ति के बारे में प्रसिद्ध है कि उसमें शैतान सरीखे अनेकों बड़े-बड़े दांव-पेंच होते हैं – 'छोटिस फेल वोटिस सुम्ब'। अतः नारी, लड़की या महिला को 'पाताल गोगिज' कहकर चिड़ाया जाता है। □

---

१. डॉ० रमेश कुमार शर्मा, वितस्ता के कथा-चरण (कहानी-संकलन), पृ० ५४

दो कविताएं

खिल जाये आकाश

□ भवानीप्रसाद मिश्र

हंसों के डैने तक
जिसे पैने लगते हैं
ऐसा उदास आकाश
कैसे कर सकता है भला
तरंगित धरती तक
कार्त्तिक की चांदनी

साफ़ किसी ख्याल की जगह
निरर्थक सवालों पर सवाल
सूझ रहे हैं आज
वन को कहो या कहो मन को

कौन करे निश्चिन्त
ऐसे वन और मन के
थरथराते बचपन को

तुम बैठ जाओ
उत्साह से भरे मेरे शरीर
करके उपेक्षा ऐसे वन की
ऐसे अपने भी मन की
सशंकित आसपास से घिरी
काली स्वच्छ चट्टान पर

कि मिल जाये तुम्हारे
इस तरह लापरवाही से
बैठ जाने के बल पर
चांदनी को
वन और मन बहलाने लायक
कोई तत्त्व
और खिल जाये
उदास आकाश भी कार्त्तिक की
चांदनी की तरह

डैने हंसों के
किसी को पैने न लगें □

पांव की नाव

रात ने
पांव के नीचे के
पत्थरों को
ठंडा कर दिया है

और भर दिया है
हवा में
एक चमकदार
सपना

चल रहा हूं मैं
ठंडे पत्थरों पर
देखते हुए
सपना वह चमकदार

डर ने
मेरी अंगुली पकड़ ली है
और आश्वास दे रहा है वह
पत्थरों पर चल रही

पांवों की मेरी नाव को
सपने के भीतर से
भोर तक उतार कर
पहुंचा देने का

डर के हाथों
उत्साह लेने का यह
अनुभव
कैसे कहूं □

उद्गम

□ गंगाप्रसाद विमल

इतने बरस बाद भी
        धूमिल नहीं पड़ती वह याद

धीमे कुहासे को चीर
        अचानक दिपदिपाने लगती है।
वह रोशनी
जिसने नन्हें हाथों को
सौंपी धरोहर
खुलेपन से काम करने का
खुलापन दिया।

हां—वह प्रतिमा
        शब्दों में नहीं
        न गारे मिट्टी में
        न हाड़ मांस में
        जीवित है अब
        घंटियों की टुन टुन में
धीमे कुहासे को चीर
दिपदिपाने लगती है अचानक।

रूप को आकृति देकर
        ऐसे बांध गई स्वर लहरियों में
        कि हर घण्टी की आवाज़
        जैसे घोषणाएं
        फुसफुसा जाती हो कानों के करीब

कहीं एक टहनी हिलती है स्वागत में

बच्चे की तरह किलक कर
एक फूल चुपके से
विकस जाता है बंदकली के भीतर
मुस्कुराते हुए।
अपना मुंह उघाड़
बताता है फूल हंसकर
ठहरो
यहीं कहीं कभी न खत्म होने वाली
पहचान है सुगंध में।

कैसी होती होगी कर्मठता की सुगंध ?
आओ खोजें उसे
घंटियों के इस नये मंदिर में
यहां आंगन में
प्रागैतिहासिक घंटियां हैं
इतिहास की रूनन झुनन
कब से सुना रही हैं ये
आदमी को
सम्पूर्णता का अर्थ

न हमें मालूम नहीं था
उसी ने तो बताया अचानक
सुनो
हर घंटी कहती है सुनो
प्रहार के बाद भी
मीठे बजो।
कानों में अमृत घोलो
आत्मा को मुग्ध करो।
अब तक जो भी किया आदमी ने
मनुष्यता को खंडित किया

सुनो
वह टन टन
जोड़ो मीठेपन से टूटन को।
आकाश
नीलवर्णी अनंत में
दिग दिगंत में
उड़ता है स्व पाखी—

ब्रह्मनाद।
आदिम समाज में
नाद ही में व्यक्त हुई पूरकता
उसी में था शिव
और शिवत्व…

हथौड़े जब घनघनाते हैं
हिंसा
क्या तुमने सुनी है अब वह आवाज़
स्मृति में
वह फैलती है आत्मा के कण कण में
और कभी नहीं फैल सकता
हिंसा का ढपढपाना
दिशाओं में।
निढाल ग्लानि में व्यक्त होती है
ऐसी घनघनाहट…युद्ध की
नितान्त सन्नाटे में।—

यही पहचाना था उसने
नन्हें बच्चों के मुख से
जहां बसता है सिर्फ प्यार
सुन्दरता
अबोधता
और उसी से जन्मती है आदमी की
पूर्णता
उसी से पराजित होती है हिंसा
प्रतिकार
अमानवता।

यह सच
घंटियों में जीवित है
मूर्तित है अबोध सर्जनाओं में
अब भी रच रहे हैं उसे
लगातार
नये नये
नन्हे नन्हे हाथ
भविष्य के। □

दो कविताएं

आकाश ने कहा

□ डॉ० उषा व्यास

बहुत दिनों से आकाश
बड़ा अनमना चुपचाप बना रहता है
लाख पुकारे, लड़े; झिकझिकाये धरती—
सब सहता है—कुछ नहीं कहता है···!

कल तो हद ही हो गई
जब पुकारते-पुकारते—
धरती की हिम्मत जवाब दे गई
तब उसने आखिरी मनोबल के
लहजे में कहा
सुनो,
आज से पहले, बहुत पहले
जब हम आज़ाद हुए थे
तब तुम कैसे चहके-चहके थे
बुलबुल जैसे नग़मे चहचहाते
अपने हिन्दुस्तां को
सारे जहां से अच्छा गुलिस्तां बताते
पांत-पांत कबूतरों की
उजली उड़ानें
कंधों पर बिठाये—तुम
मेरे घर आंगन उतरे थे—
सृष्टि के प्रथम विहान सरीखा
मुक्ति के उल्लास का

राशि-राशि सिंदूर
मुट्ठी-भर-भर उछालते—उड़ाते
उत्सव मनाने—मुझे रिझाने

कल भी तो आज़ाद होंगे न हम !
तुम, कल नहीं आओगे ?
नहीं, बहुत रूठ जायेंगे हम
हाथ नहीं आयेंगे तुम्हारे
याद रखो
बहुत पछताओगे
इस धमकीली मनुहार से

अन्दर ही अन्दर
सहम गये, सुन्न पड़ गये आकाश ने
धीरे से कहा—
देखो,
मुक्ति की वर्षगांठ मनाने
तुम्हारे यहां मैं कल नहीं फिर किसी
और दिन—और उत्सव मनाने आऊंगा।
जो चाहोगी—
दूंगा-दिलाऊंगा—तुम्हें रिझाऊंगा
तुम समझो न बात
बंधन तो बंधन है—
कारा देशी हो या विदेशी—
घर में पहनी बेड़ियों को—
गहने समझना
खनखनाना, मुग्ध होना, इठलाना
गुनगुनाना
छि: ऐसे में उत्सव
न, इन्हें आज़ादियां नहीं कहते

आने और लौट जानें के बीच

कुनमुनाते बच्चे को
थपकते दुलारते
झंपी-झंपी पलकों पर
नन्हीं-नन्हीं निंदिया की
मलूक मुहरें छापते
लोरी की आखिरी कड़ी के साथ
जुड़ गई हैं अक्सर
दूर आबनूसी अंधेरे में गुम
वीरान सड़क को
पहेलियां बुझाती
तुम्हारी आमद-आमद की अटकलें
ईख के पोर-पोर
रचा-अचरा-रसमाता-चुहचुहाता
धुक-धुक-धुकुर-धुकुर
धड़क-धड़क उठा है
मांगनहार इंतज़ार
बन्द दरवाजे पर बजी, थिरकी
थम गई है अचानक
दस्तकी रबाब की मरहम झंकार
गलियारे के दरिया में
ठाठें मारती
मदालसा जुन्हाई का वह झक-झक तिलिस्म
वे मोमी-मोमी लम्स
वे 'सर-सर-सर-सर-सर-सर-सर'…
रेशम-रेशम पटोला-सी देह में
पारे की गुरियां जड़ते
तुम्हारे हाथ—
और फिर सुबह अलस्सुबह
ऊंघते-ऊंघते तारों के साथ-साथ
करवट-करवट सिलवट-सिलवट
रड़कती रसौती बेकली के बीच
सांस-सांस संजीवनी बोते
कभी मेरे, कभी बच्चे के

माथे पर
आहिस्ता-आहिस्ता
"चुक-चुक"···एक-एक···
अशरफी धरते जाने को
हो उठते हो तैयार
कैसे ताब लाये कोई
उस संधि क्षणांश की
जो आने और लौट जाने के बीच
मुट्ठी में बन्द पानी-सा
तुपका-तुपका रीता रिसता-निचुड़ा
रह जाता है—
लोग जानते हैं—
लोग देखते हैं—
लोग कहते हैं—
तुम शिल्पी हो
मूर्तियां बनाते हो
लेकिन मैं ! मैं तो अब जानी हूं
—कि दूर कोने पर
हिला-हिलाकर हाथ
लौट-लौट आने को
करते आश्वस्त
तुम—!!
दरअसल बार-बार
मुझे गढ़ते हो—
मुझे बनाते हो—
जाते-जाते, तराशते हो पत्थर में
मोम को ढालते-गलाते हो □

तीन कविताएं

तुम्हारी शर्तों पर

□ नीलिमा सिंह

लो—
मैंने तुम्हारे कहने से
खिड़की
बन्द कर ली है अपनी।

मेरी चीखें
अब केवल मेरे ही कानों को
बेधेंगी,
फफोलों के भीतर
छलछलाएंगी,
रोग बन कर फूटेंगी जहां-तहां।

नहीं मांगूंगी
खुली हवा का दान
तुमसे
तुम्हारी शर्तों पर
कभी नहीं मांगूंगी। □

कितनी शिराएं काट सकता है कोई

सभी रिश्तों को
कन्धे पर से
धूल की तरह झाड़ देना
नामुमकिन है।

कुछ निशान
तेजाब से भी नहीं उतरते
छीलते रहो चमड़ी को
तार-तार हो जाने तक,
जीते जी
कितनी शिराएं काट सकता है कोई ! □

अनमोल

आकाश की नीलिमा
सागर की गहराई
सुगन्ध वनस्पतियों की
चेतना के झरोखे से उतर आए—
बहुत है।

इन्द्र-धनुष
आज्ञा का अनुगामी नहीं होता,
खुली हवा को
रहने के लिए घर नहीं चाहिए,
न आरक्षण।

आनन्द के अवतरण का
कोई गणित
कोई व्याकरण
कोई मोल नहीं होता। □

मैदानेजंग और दंगे

□ केशव पाण्डे

तुम्हारी आत्मीयता और घनिष्ठता
सम्बन्धों की देशी जमीन पर
तनावों के आयातित बीज बो रही है आजकल
षड्यंत्रों की खाद, हवा, पानी की मदद से
संदेहों, अफवाहों की फसलें उगा रही है मौसम की
अनिच्छा के बावजूद
जबकि हक़ीकत यह है कि,
दिन की नीलाई में तैरते स्वप्नवत तारागणों और
युद्धोत्तर काल में उठती अफवाहों के बगूले किसी
पतंग की तरह कहीं न कहीं डोर से बंधे होते हैं जरूर
लेकिन प्रत्येक सच्चाई/और/उसकी विश्वसनीयता
अफवाह नहीं होती है अन्ततः।
ठीक उसी तरह जैसे कि हादसों की भाषा में
मेघ-मल्हारों का स्वरोच्चार/और/नहीं होता
समुद्र की आंखों में आसमानी चेहरे का रंगाभास
केवल एक भ्रम है जो दृष्टिहीन आंखों में चढ़ा
दिया जाता है पीले-हरे-नीले चश्मे की तरह
उन समझदार लोगों के अंधे हाथों/जो धूप में
किरनीले और रात में पनीले होने के आदी हो
गए होते हैं।

तुम्हारी बौनी आत्मीयता और अंधी घनिष्ठता
ऐसे ही चालाक हाथों की हिफाजत में/कुटिलता का
कैंसर पाल रही है अपनी रक्त-कोशिकाओं के बोतल में

उन लोगों के खिलाफ/जो हवा की आज़ादी का
खयाल और कनफ्यूज्ड लट्टुओं में कैद/रोशनी का मलाल
रखते हैं मन के भीतर।

शायद इसीलिए तुम्हारे चेहरे की कमीज में
उभरने लगे हैं पैबंद के चकत्ते/और हम-तुम
अपनी-अपनी डालियों में बैठ/कुतर्कों की चोंच से
उधेड़ने लगे हैं/एक-दूसरे की क्षत-विक्षत लाशों
का ताना-बाना।

सचमुच कल तक सरहदों के मैदाने-जंग
आज की तंग गलियों के दंगों से कहीं बेहतर
और अच्छे थे। □

निवेदन

□ प्रकाशित रचनाओं पर उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

□ जम्मू-कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराजा में वरीयता दी जाती है।

□ रचनाएं कागज़ के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाईप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है।

□ स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है।

□ 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—सम्पादक

तीन लघु कविताएं

अब तक

□ ज़फ़र अहमद

सोचता हूं
अब तक
ऐसा जीवन
जीया है
जिसमें
किसी ने
बिन कहे
नहीं
कहा है
सच भी
झूठ भी
सब
आप के लिए
कहा है

सोचता हूं
अब तक

वह सिर्फ मैं हूं

इन्तज़ार का
ऐसा कैदी
जिसने बनवास काटा हो
हर क्षण का
और रहा
अकेला
मेरी तरह

कैसा अन्याय किया है

चारों ओर
ऐसा कुछ हो रहा है
जिसे क़लम बंद करने से
असमर्थ हूं

और ऐसे में
तुमने
क़द बढ़ा के
आधा द्वार
बन्द कर लिया है □

कहानी

जहरीली हवा का असर

□ शकुन्त दीपमाला

वह बड़े अक़लमन्द लोग थे। कई दिनों से वह सब अपने घरों में भूखे पड़े हुए थे परन्तु कोई उफ़ न करता था। एक ही तरह के जज्बे की लहर में वे वेकाबू थे। कई देशों ने अपने मिशन वहां भेजे ताकि वह उन्हें खाने को राजी कर सकें, परन्तु सब प्रयत्न विफल हुए। उनके पास किसी प्रकार के तर्क नहीं थे या केवल उन्हें इतना ही बोलने की आज्ञा थी क्योंकि हर बात का उत्तर वह यही देते कि हम न खाकर अपने अन्न की शक्ति बढ़ा रहे हैं। विज्ञान की दुनिया में यह बिलकुल नयी और अजीव बात थी। न खाकर वह अपने अन्न की शक्ति बढ़ा रहे हैं, वह कैसे? यह बात वह अभी खोल नहीं सकते। यही तो एक भेद की बात है जिसके बारे में वह खुद भी नहीं जानते परन्तु उन्हें यह पता है कि इस बात का फ़ायदा होगा अवश्य। उन्हें हो न हो उनके वतन को होगा।

शहरों में विशेष प्रकार की ख़ामोशी थी। सबके घरों की चिमनियों ने सांस लेना बन्द कर दिया था और वह अपनी भूखी आंखों से चारों ओर देख रही थीं। एक सप्ताह के पश्चात उन लोगों ने छोटी-छोटी लाशें अपने घरों से बाहर लुढ़का दीं। बच्चों की लाशों से तमाम गलियां भर गयीं। इन लाशों को कई दयालु देशों के मिशन उठाकर ले जाते इस आशा में कि शायद किसी बच्चे को वह जिला सकें परन्तु वे इसमें सफ़ल नहीं हो सके। जो मां की गोद में मर जाये उसे भगवान की शक्ति भी ज़िन्दा नहीं कर सकती। फिर भी कहीं से कोई रोने की आवाज़ नहीं आयी। रेडियो से वतन के रहनुमाओं की जोशीली आवाज़ें बार-बार यह घोषणा कर रही थीं कि, ''घबराओ मत। शीघ्र ही तुम्हारी कुर्बानियां रंग लायेंगी बस केवल सात दिन और, और फिर देखना तुम्हारा देश उन्नति के मार्ग पर सबसे आगे होगा।''

अगले चार दिन के बाद बूढ़े दम तोड़ने लगे और कई नाज़ुक किशोर-किशोरियों के शव भी नजर आये। इस पर रेडियो से बार-बार चिन्ता प्रकट की गयी और घोषणा हुई कि 'किशोर-किशोरियों के मरने का कोई विशेष कारण सरकार को नज़र नहीं आ रहा। इस का अर्थ यह है कि हमारे देश में आक्सीजन की कमी दिन-ब-दिन हो रही है। हम जल्दी ही

प्रबन्ध कर रहे हैं कि सासइंदानों को हवा लाने भेजें। भूख से चलने-फिरने को विवश हो गए लोग यह सुनकर बहुत खुश होते। वह बड़े बहादुर लोग थे··· मौत को सामने देखकर भी नहीं घबराते थे। उनके पथप्रदर्शकों को, उनके शुभचिन्तकों को उनका कितना ध्यान है, अब ऑक्सीजन आने ही वाली है, वह अब कभी नहीं मर सकते और उधर गोदामों में अन्न की ताकत दिन-ब-दिन बढ़ रही है। सारी दुनिया उनकी अक्लमन्दी को बेवकूफ़ी समझती थी परन्तु वह जानते थे कि दुनिया बेवकूफ़ है।

उनके शहर में एक आदमी था जिसकी बहुत बड़ी लायब्रेरी थी। वह मोटा-सा चश्मा लगाये हर वक्त पढ़ता रहता था। वह बहुत कम बातें करता था और प्रायः मेज पर झुककर कुछ लिखता रहता था। उसकी दोस्ती केवल एक छोटे से बच्चे से थी जो उसे अपनी मां से भी ज्यादा चाहता था। अपने पास आने वालों को यदि वह कुछ पढ़कर सुनाता तो उन्हें लगता कि वह विदेशियों की तरह बातें कर रहा है जो उन्हें अन्न खाने को मजबूर कर रहे हैं। देश के रहनुमा यह जानते थे, समझते थे कि वह अक़्ल का दुश्मन अपनी शक्तियों को दिन-रात खा रहा है। इससे पहले कि वह और लोगों को भी गुमराह करे, इसे निष्कासित कर दिया जाना चाहिए परन्तु जिस दिन वह जिलावतनी का फ़रमान लेकर उसके पास पहुंचे वह अपनी मेज पर झुका बैठा था। उसकी ऐनक नाक से नीचे लुढ़क आयी थीं और उसकी रूह (आत्मा) जिलावतन हो गयी थी कि नहीं—इसका पता नहीं चल सका। हां, उन कागजों को विशेष तौर से जलाया गया जो वह आखिरी दम तक लिखता रहा।

वह अपने आप क्यों मरा, इसका भी एक विशेष कारण था। उसी रात को उनके वैज्ञानिक ऑक्सीजन लेकर आ गये थे। उस हवा को जब छोड़ा गया तो लोग बड़े खुश हुए और लम्बे-लम्बे सांस खींचकर अपने फेफड़ों में हवा भरने लगे। परन्तु सुना गया कि वह फ़िलॉसफ़र उस ऑक्सीजन को सहन न कर सका। बड़ी बेचैनी से कमरे में इधर-उधर चक्कर काटता रहा और फिर चुपचाप अपनी मेज़ पर बैठ गया।

फ़िलॉसफ़र की मृत्यु की ख़बर रेडियो से सुनकर एक छोटा-सा लड़का रेंगता हुआ वहां पहुंच गया और फ़िलॉसफ़र के चरणों से लिपटकर बहुत रोया। अब उनको पता चला कि एक बच्चा अभी ज़िन्दा है। असेम्बली में यह बात उठायी गयी कि इस बच्चे के मरने के बाद सारा देश बच्चों से खाली हो जायेगा इसलिए इसको बचाने के लिए उसे खाना दिया जाये परन्तु प्रश्न यह उठा कि जब सब जानों के लिए एक-सी आज्ञा है तो केवल एक जान के लिए कानून क्यों तोड़ा जाये? आख़िर निर्णय यह हुआ कि दो दिन के फ़र्क से कुछ नहीं होता इसलिए सबको खाने की आज्ञा दे दी जाये। उस दिन खाना खाने के बाद उस लड़के को किसी ने नहीं देखा। हां, फ़िलॉसफ़र के कमरे के बाहर ताला पड़ा हुआ था और उसका निर्जीव शरीर अन्दर वैसे ही पड़ा हुआ था।

अब उन लोगों की कुर्बानियां रंग लायी थीं और वाकई वह उस बढ़ी हुई ताकत वाले अन्न को खाकर सड़कों और बाज़ारों की रौनक बढ़ा रहे थे और अपने शुभचिन्तकों के गुण गा रहे थे। अनाज के गोदाम भरे हुए थे और खाने वाले कम थे। इस तरह मुल्क से बेकारी, बेज़ारी और ग़रीबी जैसी मलामतों का सफ़ाया हो रहा था और सब लोग खुश थे क्योंकि बचा हुआ अन्न विदेशों को भेजकर उन्हें बड़ा फ़ायदा हासिल हो रहा था। उनके रहनुमाओं को बदले में बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा मिली थी। अब उनकी समझ में आया कि क्यों विदेशी लोग चाहते थे कि वे अपने अन्न की ताकत न बढ़ायें।

एक दिन सुबह रेडियो पर ज़ोर-ज़ोर से बार-बार चेतावनी दी गई कि गुमशुदा लड़का वापस आ गया है और वह बड़ी ख़तरनाक हवा अपने साथ लाया है जिससे बड़ी ला-इलाज बीमारियों के फैलने की सम्भावना है इसलिए जनता को यह हिदायत दी जाती है कि वह हर सम्भव प्रयत्न कर उस हवा से बची रहे।

परन्तु वह हवा बड़ी अजीब और जादू जैसे प्रभाव वाली थी सबसे पहले उस लड़के ने फ़िलॉसफ़र का कमरा खोला और वह हवा उसमें छोड़ दी। कुछ देर बाद फ़िलॉसफ़र के मुर्दा शरीर में हरकत होने लगी और वह अपना चश्मा सम्भालकर लिखने में व्यस्त हो गया और छोटा लड़का उछलकर उसकी मेज़ पर जा बैठा और उसकी किताबों को झाड़-संवारकर रखने लगा। हवा की यह रासायनिक विशेषता है कि वह एक कमरे में बन्द नहीं रह सकती इसलिए वह हवा कमरे से निकलकर सारे देश की फ़िज़ा में फैल गयी। और उसका प्रभाव बड़ा अजीब हुआ। सब लोग धीरे-धीरे फ़िलॉसफ़र के पास आने लगे और उसकी किताबों को धार्मिक पुस्तकों से भी ज़्यादा कद्र और शौक से पढ़ने लगे।

फिर एक दिन सबने सुना, वह बच्चा रेडियो से बोल रहा था कि "हमारे देश के पथ-प्रदर्शक और शुभचिन्तक नयी हवा के प्रभाव को सहन नहीं कर सके इसलिए वह रातों-रात देश छोड़कर भाग गये हैं और अब जिस किसी को भी यह हवा माफ़िक न आये वह चौबीस घंटों के भीतर देश की सीमाओं से बाहर हो जाये।"

यह सुनकर फ़िलॉसफ़र मुस्कराने लगा और नयी हवा को और अधिक उत्साह के साथ अपनी किताबों में भरने लगा। □

कहानी

यादों की बू

□ मोहिनी दत्ता

हरीराम ताया जी को हम सब 'पापा जी' कहते थे। अपने घर के बाद अगर कोई घर अच्छा लगता था तो केवल पापा जी का। विरले ही कोई हफ़्ता ऐसा होता जब इनके घर न जा पाती, वर्ना हफ्ते में कितने ही चक्कर लगा आती थी। लेकिन जब से ताई का निधन हुआ था, इनके घर जाना बहुत कम हो गया था। न मालूम क्यों? ऐसा लगता जैसे उस घर में अब अपना कोई भी नहीं है। ताई के कुछ ही समय बाद गुसाईं चाचा की भी मृत्यु हो गई। उनकी बरसी पर जब रामायण का अखंड-पाठ रखा गया तो जाना ही पड़ा। वैसे पाठ पर जाने का कोई इतना शौक तो नहीं था परन्तु 'पापा जी' से मिलने को बहुत मन हो रहा था। उन्हें देखे भी एक अरसा हो गया था।

दोपहर का समय था। अनमनी-सी मैं, गेट खोलकर अंदर पहुंची। सामने ही अलिया दीख गया। लॉन की कटाई कर रहा था। बच्चे, इसकी 'टक्‌टक्' कर रही मशीन के पीछे-पीछे भाग रहे थे। कुछ देर को उसकी मशीन रुक गई, उसने सलाम करने को हाथ उठा दिया था। लॉन के आस-पास बनी क्यारियों में, खिले-अधखिले फूल, बहार की चढ़ती जवानी का आभास करा रहे थे।

लॉन के साथ ही दोनों मकान थे। मैं चाचा जी वाले मकान की ओर बढ़ गई। कुछ देर पाठ सुनने के बाद बाहर निकली तो चाची दिख गईं। बड़े प्यार से मिलीं और फिर नीलू के कमरे की ओर ले गईं। "तुम और नीलू ज़रा बातें-वातें करो। मैं चरण के हाथ चाय भेजती हूं।"

नीलू के कमरे का दरवाजा खोलते ही पश्चिमी-संगीत की स्वर-लहरियां कानों से टकराईं। सामने ही बेड पर अधलेटी-सी नीलू कोई किताब पढ़ रही थी। मुझे देखते ही उठ खड़ी हुई। "ओ, हलो दीदी! सो हैपी टु सी यू! आज कैसे फुरसत मिल गई हमारे घर आने की? रियली यार, तुमने तो अब आना-जाना ही छोड़ दिया है।"

वह मेरा हाथ पकड़े ही मुझे बेड तक ले गई। मैंने उसकी उल्टी पड़ी हुई किताब को सीधा किया। इंगलिश नॉवेल था 'होटेल'। नीलू टेप-रिकार्डर की तरफ झुकी हुई थी।

शायद कैसेट बदल रही थी। फिर कुछ सोचकर उसने टेप बन्द कर दिये और मेरे पास ही बेड पर दोनों टांगें सिकोड़कर बैठ गई।

"और सुनाओ, क्या करती रहतीं हो सारा दिन? कोई सर्विस वगैरा···"

'नहीं रे!' मैंने किताब बन्द कर दी। "दिन भर में घर का तो निबटा नहीं पाती सर्विस क्या ख़ाक करूंगी! तुम सुनाओ, कैसा रहा बाहर का टुअर? सुना था मानचैस्टर गई थीं रंजू के पास।"

चरण चाय छोड़कर चला गया। नीलू ने मुझे चाय पकड़ाई और फिर बेड पर आकर बैठ गई। प्याला मुंह से लगाते हुए बोली—"अरे वहां की तो बात ही मत पूछो यार! वहां की लाइफ़ तो बहुत मज़ेदार है। छः महीने कैसे बीत गए, मुझे पता ही नहीं चला। वापस आने को तो मन ही नहीं कर रहा था।"

"क्यों? कोई फ्रेंड-व्रेंड···" मैंने छेड़ा।

"नहीं-नहीं! ऐसी कोई बात नहीं थी। यू नो, यहां तो बस बोर हो जाते हैं। कहां चली हो? क्यों चली हो? ऐसा क्यों पहना? वैसे क्यों किया? वहां यह सब नहीं है। सब फ्री हैं, टोटली फ्री। कोई भी इन्टरफ़ियर नहीं करता।" वह अपनी रौ में कहती जा रही थी। तभी चरण उसे खाना खाने को कह गया। मैंने सोचा अब पापा जी से ज़रा मिल लूं और फिर चलूं लेकिन नीलू ने मुझे नहीं छोड़ा। खींचती हुई अपने साथ ही ले गई।

घर के पिछवाड़े भी एक छोटा-सा बागीचा है। उसी में खाने की मेज़ लगाई गई थी। शायद अन्दर पाठ चल रहा था इसीलिए। दोनों भाइयों के परिवारों के लोग तथा इक्का-दुक्का मेहमान, सभी मेज़ के आस-पास जमा थे। लेकिन पापा जी कहीं नहीं दिख रहे थे। मैं सोच रही थी कि नीलू से पूछूं, तभी चाची बोल पड़ीं—"मुंडू! ज़रा अन्दर से पापा जी को बुलाना, खाना खाने के लिए।"

पापा जी धीरे-धीरे चलते हुए आए और खाने की मेज़ से थोड़ी दूर, एक साइड पे पड़ी आराम कुर्सी पर बैठ गए। मैंने पास जाकर नमस्ते की। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरा और मुझे वापस खाना खाने के लिए भेज दिया। सभी बैठे खाना खा रहे थे।

पापा जी आए भी और बैठ भी गए। किसी ने उनकी ओर देखने का भी कष्ट नहीं किया। केवल चाची को उनकी उपस्थिति का एहसास हुआ था। उन्होंने थोड़ा घूंघट निकाल लिया और प्लेट में खाना परोसकर खुद पापा जी को दिया। बाकी सब अपने में मस्त थे। प्लेटों में चम्मच खटखटा रहे थे, सब्जियों के डोंगे इधर से उधर आ-जा रहे थे। पापा जी को भी कुछ चाहिए, किसी को चिन्ता न थी। शकुन्तला भाभी नागपुर वाली ननद से पूछ रही थीं कि कंगन कितने तोले का बनवाया है। सुमन दीदी अलका भाभी की साड़ी के प्रिंट की तारीफ कर रही थीं। किसका हेयर-स्टाइल अच्छा है तो किसके बालों की कटिंग अच्छी नहीं हुई। किसके पास कितनी इम्पोर्टिड साड़ियां हैं तो किसके घर इस बार किटी-पार्टी है। और भी ऐसा ही बहुत कुछ···। आदमी लोग तो खाने से निबटकर जा भी चुके थे, परन्तु औरतें अपनी-अपनी हांके जा रही थीं। और पापा जी, किसी पुराने फर्नीचर की तरह एक तरफ पड़े हुए, टुकर-टुकर इन सब की ओर देख रहे थे। उनका चेहरा सूख गया था। ऐसा लगता था इन दो-तीन वर्षों में वह बीस वर्ष गुज़ार कर, बुढ़ापे की अवस्था में काफी आगे निकल चुके हैं। उनके चेहरे पर फैली मायूसी और बेबसी देखकर मुझे कुछ वर्ष पहले का एक दिन याद आ गया जब ताई भी ज़िंदा थीं—

उस दिन इनके घर में किसी का श्राद्ध था। श्राद्ध के दिनों में काफी धूम रहती थी। सभी करीबी रिश्तेदारों को भोजन पर बुलाया जाता था।

हम सब लोग लॉन में बैठे बातें कर रहे थे, तभी कार का हार्न सुनाई दिया। माली गेट की ओर भागा। सभी अपने-अपने स्थान पर सतर्क हो गए। कार के अन्दर आते ही सब के मुंह से निकला—'पापा जी आ गए, पापा जी आ गए।' कार बड़े भैया भुवनेश्वर ड्राइव कर रहे थे। कार के रुकते ही अगला दरवाज़ा खुला और लंबे-ऊंचे कद के, पठान-जैसे पापा जी बाहर निकले। दूध-सी उजली कमीज़, पाजामा, खुले बटन रखे हुए काला कोट, और तुर्रेदार सफेद पगड़ी वाले पापा जी जब हमारी ओर बढ़े तो सब के सब खड़े हो गए थे। उन्होंने किसी के सिर पर हाथ फेरा, किसी की पीठ थपथपाई। जिसको वह छू लेते, वही धन्य हो जाता था। सामने बरांडे में शकुन्तला भाभी सलाद काट रही थीं। पापा जी को देखते ही खड़ी हो गई थीं। साड़ी के पल्लू से सिर अच्छी तरह से ढक लिया था। पापा जी शकुन्तला भाभी से खाने वगैरह के बारे में पूछकर जब तक ऊपर अपने कमरे में नहीं चले गए थे शकुन्तला भाभी ऐसे ही खड़ी रही थीं—हाथ में छुरी पकड़े हुए। आज भी तो वही पापा जी थे, परन्तु न वे आंचल थे न ढकने को सिर!

कुछ दिनों बाद मैंने सुना पापा जी अमृतसर में अपने छोटे बेटे देवेन्द्र के पास चले गए थे और वहीं बाथरूम में गिर जाने से उनके बायें कूल्हे की हड्डी टूट गई है। बेचारे पापा जी! यह दुःख भी देखना था अब इस उम्र में! भुवनेश्वर भैया, शकुन्तला भाभी और चाची चले गए थे उनको देखने। छोटा बेटा तो रहता ही वहीं था। उसके हिस्से में अमृतसर का वह हवेली जैसा मकान, दुकानें और कोल्ड स्टोरेज वगैर सभी कुछ आया था। यहां का सब कारो-बार, मकान वगैरह बड़े बेटे को मिले थे।

मेरी बीमारी का सुनकर एक दिन जब बुआ आईं तो मैंने पूछा—"पापा जी की टांग, का अब क्या हाल है, बुआ? आप तो गई हुई थीं, देखकर आई होंगी। इन दिनों में तो बहू-बेटों में होड़ लगी होगी सेवा करने की।"

'सेवा!' बुआ ने बुरा-सा मुंह बनाया। "कौन करता है सेवा! जब तक टांगें चलती रहें, कमाते रहो, बच्चों के लिए बनाते रहो, तब तक ही पूछते हैं सब। जब टांगें बैठ गईं तो कोई नहीं पूछता। पड़े हैं पापा जी हस्पताल में! दिन को एक-आध चक्कर लगा आते हैं सब, रात को कोई भी नहीं जाता। पड़े रहते हैं अकेले। अपनी किस्मत के सहारे!" बुआ का गला रुंध गया। उनकी आंखें छलक पड़ीं।

थोड़े दिन बाद मैंने जब सुना पापाजी को भुवनेश्वर भैया यहां ले आए हैं तो उनसे मिलने की इच्छा को रोक न सकी!

उनके घर पहुंचकर जब मैंने कॉल-बैल बजाई तो शकुन्तला भाभी ने दरवाज़ा खोला। मुझे पापा जी के कमरे में ले गईं।

"तुम बैठो, मैं ज़रा अपनी निटिंग ले आऊं। पापा जी बाथरूम गए हैं अभी आ जाएंगे।"

पापा जी के बेड के पायताने की ओर बुखारी लगी हुई थी, जो शायद बुझी हुई थी या फिर काफी धीमी जल रही थी। बुखारी से कुछ ही दूर खाने की मेज़ लगी थी जिस पर चीनी की एक छोटी प्लेट में संतरे की कुछ फांकें पड़ी थीं। बाथरूम का दरवाज़ा खुला और बहुत ही धीरे-धीरे चलते हुए पापा जी अपने बेड की ओर बढ़े। मैंने उठकर पकड़ना चाहा तो उन्होंने

हाथ के इशारे से मना कर दिया। खुद ही दीवार पकड़-पकड़कर अपने बेड तक गए। शुक्र है ! अब तो कुछ चल फिर लेते हैं ! मेरे दिल को राहत-सी मिली। शकुन्तला भाभी भी आ गईं और आते ही संतरे वाली वह प्लेट उठाकर मेरी ओर बढ़ाई।

"इसकी ज़रूरत नहीं है। अभी खाना खाकर आई हूं।"

पापा जी पैरों पर कंबल डाल रहे थे। बोल पड़े – "कब की तो तुम घर से निकली होओगी। एक घंटा तो तुम्हें रास्ते में लग गया होगा। अभी तक तुम्हारा खाना वहीं धरा है क्या ?"

शकुन्तला भाभी भी बोलीं—"लो न। इससे क्या होता है। यह कोई हैवी थोड़े न है।"

मैंने संतरे की फांक मुंह में डाली ही थी कि—"हमारा बीबी जी आपको बुलाता है।" एक गोरखा नौकर आधा दरवाजा खोलकर खड़ा था।

"क्यों ?" शकुन्तला भाभी ने बैठे-बैठे ही पूछा। वह अपनी बुनाई शुरू कर चुकी थीं।

"बॉम्बे शे, फारीन का शाड़ी वाला आया है।"

"अच्छा-अच्छा ! चलो मैं आई।" और भाभी ने फटाफट गोला और सिलाइयां संभालीं। "पापा जी ! आप और पमी बाहर धूप में बैठेंगे ? मैं बहादुर से कह के कुर्सियां रखवा देती हूं। पमी तुम बैठो मैं अभी आई, हुं।" और वह चल दीं।

नवम्बर की हल्की धूप, बहुत मीठी लग रही थी। पतझड़ आ जाने पर भी क्यारियों में रंग-बिरंगे फूल खिले थे। मगर सामने ही दीवार के साथ लगे आड़ू और सेबों के वृक्षों के पत्ते पीले पड़ चुके थे और झड़ते जा रहे थे। पापा जी की ओर देखा तो वह भी इस उपवन के किसी सूखे हुए पत्ते की तरह ही लगे। पापा जी अपने पैरों और टांगों पे शाल ठीक कर रहे थे और मैं सोच रही थी यही वह बाग था जहां शाम की चाय इकट्ठे पी जाती थी।

पापा जी, ताई, गुसाइं चाचा, सभी मिलकर बैठे होते। बेटे व बहुएं आगे-पीछे घूमा करतीं। बच्चे गोदियों में उछल-कूद रहे होते और नौकर हाथ बांधे खड़े होते। कितना शोर होता, कितनी चहल-पहल होती ! कुछ भी तो नहीं था आज !

"अब आपकी टांग काफी ठीक लग रही है ! आपने भी बहुत कष्ट उठाए हैं।" मैंने धीरे से, कुछ झिझकते हुए कहा। क्योंकि उनके उदास चेहरे की ओर देखकर मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं बात कैसे शुरू करूं और क्या बात करूं !

"हां, टांग अब ठीक ही है।" वह बहुत धीरे-धीरे बोले—"जो दुःख भाग्य में लिखा हो वह तो झेलना ही पड़ता है। भगवान की माया है। जो जीना चाहते हैं उन्हें जीने नहीं देता, जो मरना चाहते हैं उन्हें मौत नहीं आती। हरे रामऽ !" उन्होंने ठंडी सांस छोड़ी।

पापा जी के चारों ओर उदासी और गम की कितनी गहरी परत चढ़ी हुई है, यह उनकी बातों से साफ़ झलक रहा था। गुसाइं चाचा के विषय में प्रसिद्ध था कि उन्होंने कभी भूले से भी भगवान् का नाम नहीं लिया था, पूजा-पाठ तो दूर रहा। उनका फालतू समय क्लब में, घूमने-फिरने, पीने-पिलाने आदि में ही बीता करता था। फिर भी उनका कभी किसी कमी से वास्ता नहीं पड़ता। भरपूर ऐश्वर्य की ज़िंदगी उन्होंने जी और अन्त समय भी कोई कष्ट नहीं पाया। खाना खाकर सिगरेट सुलगाते हुए दुकान के लिए निकले ही थे कि दिल का दौरा पड़ा और बस !

एक पापा जी हैं कि जितनें ही भक्त, धार्मिक और चरित्रवान्, उतने ही दुःखी। पत्नी

का वियोग, भाई की चोट, घर वालों की बेरुखी। कितने ही ग़मों को सीने से लगाए, अपने जीवन का बोझ अपने ही कंधों पर उठाए जी रहे हैं ! दिल में कहीं कुछ चुभने लगा।

धूप पीली पड़ती जा रही थी। मैंने घर जाना चाहा।

''ठहरो, बेटे ! चाय पिये बिना ही चली जाओगी क्या ? शकुन्तला आती ही होगी।'' मेरा दिल बिल्कुल नहीं लग रहा था। मुझे वे दैत्यों जैसे बड़े-बड़े मकान बिल्कुल सूने और उदास लग रहे थे। गुसाईं चाचा के मकान में भी कोई नहीं दिखा तो मैंने पापा जी से पूछा—''ये नीलू वगैरह नहीं दिख रहे।'' पापा जी ने बताया कि वे सब लोग नीलू के लिए लड़का देखने दिल्ली गए हुए हैं।

काफी देर बाद शकुन्तला भाभी आईं। शाम हो चली थी।

''अच्छा अब मैं चलूं। बहुत देर हो गई है।'' मैंने भाभी से अनुमति चाही।

''चलो, आओ अंदर। एक कप चाय पीकर चली जाना।''

''नहीं भाभी जी, देर हो जाएगी।''

''इतनी दूर से आई हो। चाय के बगैर ही जाओगी।'' पापा जी कुछ सहमे-से, धीमे से बोले।

''और क्या ? आईं भी और चल भी दीं। चाय पीकर ही चली जातीं। चाय बनने में देर ही कितनी लगती है।'' भाभी मेरे उत्तर की प्रतीक्षा में खड़ी हो गईं। मुझे उनका ऐसा आधे मन से किया गया आग्रह अच्छा नहीं लगा। मैं उठ खड़ी हुई। वैसे उस ठंडी शाम को सचमुच चाय की तलब हो रही थी। मैंने पापा जी से भी अनुमति चाही। वे चुप थे। उन्होंने न 'हां' कहा न 'न'।

बाहर आकर मैंने पलटकर देखा तो ऊपर वाले बरांडे पर बरबस ही मेरी नजरें रुक गईं। मुझे वह दिन याद आ गया जब ताई इसी बरांडे में खड़ी थीं और मैं नज़रें बचाकर चली जा रही थी।

''पमी सुनो ! कहां जा रही हो ?'' ताई ने मुझे देखते ही पुकारा था।

''बस ज़रा तारासिंह अंकल के घर !'' मैंने झेंपते हुए जवाब दिया था। मुझे लगा था मेरी चोरी पकड़ी गई है।

''पहले यहां आओ फिर जाती रहना तारासिंह के घर।''

उन दिनों ताई बीमार चल रही थीं। दिल की तकलीफ हो गई थी। नीचे नहीं आईं। मुझे ही ऊपर जाना पड़ा था। कितनी गुस्सा हुईं थीं पास बिठा कर !

''मेरी खबर लेने नहीं आ सकीं दुबारा और तारासिंह के घर जाने का टाइम मिल गया तुझे ?''

उस दिन फिर कहां जा पायी थी तारासिंह अंकल के घर ! ताई के हत्थे एक बार चढ़ जाओ तो सहज ही कहां जान छूट पाती थी। वह डांट-डांटकर, ठूंस-ठूंसकर खिलाती रहतीं कि पूछो मत ! उस साल श्राद्ध के दिन मैं नहीं जा पायी थी। शाम को दरशनसिंह भरे हुए थाल लेकर आ गया था।

''बड़ी बीबी जी बाहर गाड़ी में बैठी हैं, आपको बुला रही हैं।''

उन दिनों ताई की सेहत बहुत ही गिर चुकी थीं। डॉक्टरों ने कहीं भी आने-जाने की मनाही कर रखी थी। सीढ़ी तक उतरना मना थी और फिर भी यहां तक आ गई हैं ! मैं हक्की-बक्की-सी बाहर को भागी थी। ताई ने कितना डांटा था न पहुंच पाने पर। फिर कार

की खिड़की से हाथ बाहर निकालकर मेरी पीठ पर फेरते हुए बोली थीं—"तू आई क्यों नहीं थी, पगली ! भला बेटियों के खाए बिना भी कहीं लगता है। सब दान-पुण्य तो बेकार चले जाते हैं।"

मुझे लगा ताई अभी भी वहीं खड़ी हैं हाथ के इशारे से बुलाती हुई। और अनजाने ही, मेरी आंखों से आंसू निकलकर चेहरे पर ढुलक पड़े।

नीलू की शादी के कुछ ही दिन बाद हमें पापा जी की मृत्यु का समाचार मिल गया था। कितना दुःख हुआ था उस दिन। उनकी मृत्यु अमृतसर में हुई थी। मैं नहीं गई। जाकर करना भी क्या था। और फिर जाना भी किसके पास था ? □

मराठी कहानी

अंधा कुआं

□ शैलजा काण्ठे

अभी तक अन्दर-बाहर उसके कितने चक्कर हो गये। कभी एक पल यहां, तो कभी बरामदे में। वह ढलती हुई शाम। अंधेरा छाने लगा उसके मन में भी। दूर तक, जितनी दूर दृष्टि जा सके, उतनी दूर का रास्ता आंखों में भर लेने का प्रयत्न। कहीं छोटा-सा बिन्दु दीखता है। साइकिल पर आगे की ओर बढ़ता हुआ। दोनों ओर दो छोटी चोटियां, झांसी की रानी की तरह छाती पर कसी चुन्नी, आगे-पीछे लय में गर्दन डुलाकर साइकिल पर चलने की आदत। वह देखने लगती है आंखों में सारी शक्ति इकट्ठी करके एकटक, पर जो देखना चाहती है, वह दिखाई नहीं देता।

तभी एक साइकिल दिखाई देती है दूर से आती हुई। वह गुप्तचर की तरह नजर जमाए रखती है—कहीं मीनू तो नहीं है? शायद हो? वह मीनू की ड्रेस का रंग याद करने लगती है, फिर उसे चलते समय की बातचीत याद आती है—

'हमेशा वही ड्रैस क्यों पहनती है?'

'यही पसन्द आती है मेरी सहेलियों को, सोनाली ने तो अभी तक देखी भी नहीं है, इसलिए उसने कहा था कि यही ड्रेस पहनकर आना।'

'ऐसा क्या है उसमें? कैसा मैला-सा लगनेवाला रंग है उसका। कैसा भी कपड़ा ले लेती है बस।'

'आजकल ऐसे ही रंग चल रहे हैं मां, तुम्हें नहीं मालूम।'

उसके मन में इस उत्तर से तरंगें उठने लगती हैं। आजकल ये ही रंग चल रहे हैं। सचमुच क्या आज की पीढ़ी सैडिस्ट हो रही है? भड़कीला रंग अच्छा लगता है मुझे तो।

वह उस साइकिल के बिन्दु को ध्यान से देखती है, बिन्दु भी थोड़ा आगे आ जाता है—गहरा नीला कपड़ों का रंग। हट, ये मीनू नहीं है, तो फिर मीनू कहां गई? अभी तक कैसे नहीं आई? अंधरे में दूर तक देखते हुए वह उसी तरह बैठी रहती है। जब कुछ भी दिखाई नहीं देता, तब मजबूरन उठती है। भगवान के पास जाती है, दिया-अगरबत्ती जलाती है, हाथ

जोड़कर आरती करती है, तब कहीं उसे अच्छा लगता है। मन को शान्ति देकर वह फिर से बरामदे में आकर बैठ जाती है। एक-दो पत्रिकायें उलटती-पलटती है। आंखें अक्षरों पर घूमती हैं, लेकिन समझ में कुछ भी नहीं आता। बार-बार वह उसी समाचार को पढ़ती है। थोड़ी देर में पत्रिका रखकर पेपर उठाती है। पढ़ने का प्रयत्न करती है, पर उसे अच्छा नहीं लगता, शब्द-बोध ही नहीं होता। किसी तरह बस में किया हुआ मन फिर से विचलित होने लगता है।

बेचैन होकर वह उठती है, फिर से फाटक के पास जाती है। बाहर अंधेरा मक्खन की तरह जमा हुआ है। रास्ते की लाइट भी नहीं जल रही। कभी भी समय पर नहीं जलती यह लाइट, फिर दिन में जलती रहती है चाहे जितनी देर···और जब जरूरत होती है, तब अंधेरा। उसे सभी की कर्त्तव्यहीनता पर क्रोध आता है। इसीलिए गुण्डों को शह मिलती है वे इसी अंधेरे में चोरी करते हैं और इसी अंधेरे का फायदा उठाकर···आगे की कल्पना ही वह नहीं कर सकी। ऐसे अंधेरे में तेज साइकिल चलानेवाली मीनू उसे दिखाई देने लगती है और उसके पीछे उल्टा-सीधा बोलनेवाले दो गुण्डे। हे भगवान ! क्या-क्या कह रहे होंगे वे ? कितना ध्यान रखती हूं उसका कि बुरी संगत में न पड़ जाय। रेडियो पर गीत बजने लगता है, तो वह झट जाकर रेडियो बन्द कर देती है। और ऐसा घिनौना अनुभव तो उसे तोड़ ही देगा। वह सोचती है—क्यों न उस कोने तक देख आऊं ? अंधेरे में आती हुई बिटिया का साथ हो जाएगा। एक झटके के साथ वह कदम बढ़ाती है। दरवाजा बन्द करने लगती है, तभी रास्तों पर रोशनी आ जाती है। सारी लाइटें झटके के साथ जलने लगती हैं। उसे अपने पागलपन पर हंसी आती है। दरवाज़ा खोलकर वह पुनः अन्दर आती है। कढ़ाई का काम निकालकर शान्ति से कढ़ाई करने लगती है। हाथ जल्दी-जल्दी चलने लगते हैं। आंखें रास्ते की ओर ही लगी हुई हैं। मन चारों दिशाओं में घूम रहा है। एक-एक पल धीरे-धीरे भाग रहा है। थोड़ी देर में ही वह फिर से बेचैन हो जाती है। हाथ की कढ़ाई के काम को टेबिल पर फेंककर फिर से बाहर आती है। आंखें पुनः रास्ते का निरीक्षण करने लगती हैं।

दूर दिखाई देने वाले स्कूटर की लाइट पास आने लगती है। परिचित हार्न बजता है। जल्दी से वह फाटक के पास जाती है। पति अन्दर आते हैं, तो उसे धीरज होता है, बहुत ही हलका लगता है।

'सुनो, मीनू अभी तक नहीं आई।'

'अभी तक नहीं आई ? कहां गई है ?'

'डिबेट क्रम्पटीशन में।'

'हां-हां, वह कॉलेज बहुत दूर है। शायद कार्यक्रम भी देर से शुरू हुआ होगा।'

'लेकिन वह तो बारह बजे से गई है।'

'जाने दो, आती ही होगी। एक बार बाहर निकलो तो कुछ-न-कुछ विघ्न आ ही जाते हैं, देर हो ही जाती है। तुम यह सब घर बैठे कैसे समझोगी ?'

खाना खाते समय पति बातें करते रहे। वह तो बस हां-हां करती जाती है। बर्तन व्यवस्थित करके पति के पास बाहर आकर बैठती है। वे बहुत-सी बातें करते हैं, पर उसका उनमें ध्यान ही नहीं है। पतिदेव पान चबाते हुए पेपर पढ़ने लगते हैं और जल्दी ही उसमें पूरी तरह डूब जाते हैं।

उसका ध्यान फाटक की तरफ ही है। वह धीरे से उठती है। अन्दर-बाहर चक्कर काटने लगती है। घड़ी की सुइयां आगे सरकती जाती हैं।

'सुनते हो ?'

'हां।'

'मीनू अभी तक नहीं आई।'

'हां।'

'हां, क्या ?'

'आ जायेगी।'

'आ जायेगी, आ जायेगी, बस। साढ़े आठ बजने को हो रहे हैं।'

'सहेलियों के साथ गई है न ?'

'हां।'

'तो आ जायेगी न।'

'आ जायेगी, आ जायेगी, फिर वही बात। तुम्हें तो कोई चिन्ता ही नहीं'—वह बिना बात ही नाराज़ होकर कहती है।

'तो मैं अब क्या करूं ?'

'पेपर नीचे रख दो।'

'लो, रख दिया।'

'पड़ोस में मोघे के यहां जाकर फोन करके पूछो।'

'लेकिन किसको करूं फोन ? कॉलेज तो बन्द हो गया होगा।'

'सीमा के यहां करो। देखो, वह आ गई क्या ?'

'लेकिन सीमा उसके ग्रुप की नहीं है।'

'न हो, लेकिन मालूम तो पड़ेगा कुछ।'

पति के लौटने तक वह अन्दर-बाहर चक्कर लगाती रही। पति के अन्दर आते ही वह प्रश्नों की झड़ी लगा देती है—'क्यों क्या कहती है सीमा ?'

'उसका कहना है कि उसे कुछ नहीं मालूम।'

'यानी ?'

'कहती है कि कार्यक्रम तो चार बजे ही समाप्त हो गया था।'

'तो फिर ?'

'सीमा तुरन्त घर आ गई। मीनू का ग्रुप पीछे रह गया था। उसे आगे कुछ पता नहीं।'

'अब ?' उसका स्वर रुंआसा हो जाता है।

'अब मैं क्या बताऊं ?' पति नाराज़ होकर बोले—"तुम्हारा कोई रौब ही नहीं लड़की पर। जब देखो तब स्वतंत्र, अपने ही मन की करने वाली। कहां जा रही है ? क्या कर रही है।···पूछना-बताना था न ? कोई ध्यान ही नहीं। अब रोओ।" वे काफी देर तक बोलते हैं, फिर बोर हो जाते हैं और पुनः पेपर लेकर उसमें खो जाते हैं।

उसके मन में घुमड़ने वाला तूफान, चारों तरफ से आती हुई आशंकायें। कहां गई होगी यह लड़की। प्यार-व्यापार ऐसी कोई बात तो न होगी ? आजकल किशोरावस्था के प्यार के पिक्चर आते रहते हैं न ? वैसा ही कुछ तो नहीं ? सारा पागलपन। पर समझाये कौन ? और अब यदि ऐसा हो गया, तो समझाने का समय भी है क्या ! वह 'बॉबी' की तरह किसी के साथ तो नहीं चली गई ? इस कल्पना से ही उसका दिल घबरा उठा। समाज में कितनी हंसी होगी। इसकी कल्पना से तो वह अधमरी हो गई। लेकिन गिरते-गिरते उछलने की तरह उसके मन से आवाज़ आई—

नहीं, मीनू ऐसा कुछ भी नहीं करेगी। कॉलेज में घटित छोटी-छोटी बातें भी मुझे बताती है, तो प्यार जैसी बड़ी बात मुझसे छिपायेगी क्या ? असम्भव ! उसका मन पक्का निर्णय लेता है। फिर उसे याद आता है 'लव स्टोरी' देखकर आने के बाद मीनू ने कितना मज़ाक उड़ाया था। आज भी उसकी याद करके उसका चेहरा खिल उठता है। मन फिर से गवाही देता है कि मीनू इतनी कच्ची नहीं। फिर उसे अपने आप पर ही गुस्सा आता है कि इतनी चिन्ता क्यों करती हूं मैं ? मीनू आ जायेगी, कितनी होशियार है वह। मैं ही पगली हूं। अपने आप को डांटती है वह। मन स्थिर होता है, शान्त जलाशय की तरह।

थोड़ा समय इसी स्थिति में बीतता है कि घड़ी में साढ़े आठ बजते हैं। शान्त जलाशय में पुनः तरंगें उठने लगती हैं, फिर उसे डर लगने लगता है। अभी तक मीनू नहीं आई। कहां गई ? आखिर क्या हुआ ? झट आंखों के आगे पेपर में प्रकाशित एक्सीडेण्ट की घटनायें आने लगती हैं। जानी-पहचानी दुर्घटनाओं की मृत्युएं पुनः मन को घेर लेती हैं। उसका दिमाग़ चकराने लगता है। अपनी मीनू भी इसी प्रकार कहीं···नहीं-नहीं·· हट ! वह आगे की सोच ही नहीं पाती। हिम्मत बांधने के लिए वह पति के पास जाती है। वे शान्ति से किसी पत्रिका को पढ़ने में डूबे हुए हैं। उसे क्रोध आता है अपनी लड़की अभी तक नहीं लौटी और ये शान्ति से पत्रिका पढ़ रहे हैं। काहे की चिन्ता है ? और मैं इनसे सहानुभूति की अपेक्षा करती हूं ? हट ! रहने दो। बात ही बन्द इनसे। लेकिन फिर मीनू ? उसका क्या हुआ ? अब आंखों के किनारों पर पानी झलकने लगा है। विवश, असहाय वह जल्दी से अन्दर जाती है। भगवान के पास का नीरांजन अब बुझने को है, पुनः घी डालकर वह बाती आगे को सरकाती है, अगरबत्ती लगाती है। अगरबत्ती की सुगंध ने थोड़ा धैर्य दिया है। क्षण बूंद-बूंद की तरह तप रहे हैं।

थोड़ी देर में सुगंध भी असह्य हो जाती है। वह फिर उठती है, झटपट बाहर जाती है। चारों ओर से लगने वाली ठंड की उसे परवाह नहीं होती। अंधेरे में नज़र गड़ाकर वह देखती रहती है। कितना समय बीत जाता है, पता ही नहीं चलता। कितनी जानलेवा कल्पनायें मन में आती हैं।

उसे बचपन का कुआं याद आता है—गहरा, अंधा कुआं स्कूल के रास्ते का। बचपन में कितनी उत्सुकता रहती थी उस कुएं से झांकने की। धड़कता दिल लेकर कांपते पांव संभालते हुए कुएं के पास जाना, लेकिन अन्दर झांकने का साहस नहीं होता था। फिर पीछे भागना दुगुनी गति से। उसी गहरे, अंधे, ठंडे कुएं में रहने का उसे आभास होता है। क्षण-क्षण में वह अन्दर घूमती जाती है, ज्यादा-से-ज्यादा भटकती है, तभी फाटक की आवाज़, मीनू का और उसके पापा का वार्तालाप। उसकी ज़ोर से घुमड़ने वाली आवाज़ 'मां' कहां की कहां खो जाती है।

मीनू 'मां-मां' कहके उसे हिलाती है। तब उसका ध्यान भंग होता है। पति पास में खड़े हैं। उसके मन का टेंशन उतर गया। अब ये खिलेगी, इस अपेक्षा से मीनू की ओर एक पल देखते हैं। उसके मुंह से बातों की झड़ी लगती है। शब्द के बाद शब्द वह फेंकती जाती है। क्रोध का आवेग होता रहता है। मीनू सुनती रहती है, चित्रस्थ-सी खड़ी हुई और पति पहले लड़की के लिए इतनी आतुर और भावुक होने वाली पत्नी का यह रूप आश्चर्य से देखते रह जाते हैं, किन्तु उसे केवल दो ही बातों की अनुभूति होती है—गहरा अंधा कुआं और उससे उमड़ने वाला ठण्डा पानी। □

—अनुवाद : रश्मि सिंह

कश्मीरी कहानी

आग और धुआँ

☐ डॉ॰ हामिदी कश्मीरी

मैं कांप उठा।

अचानक उसके श्वेत माथे पर कई रेखाएं उभर आईं। उसके प्रसन्न चेहरे पर अप्रसन्नता की लहर दौड़ आई। जैसे सेब की श्वेत कलियों पर घटाओं ने साया डाल दिया हो। वह बेचैनी सी अनुभव करने लगी और अपने निचले गुलाबी होंठों को श्वेत दांतों से चबाने लगी, कुर्सी पर बेचैनी से पहलू बदलते हुए उसने अपने डैडी की ओर थकी दृष्टि से देखा और अपने उलझे-उलझे बालों पर रेशमी चुनरी ठीक की और मुझे एकदम भूल, कमरे के वातावरण से बिल्कुल असम्पृक्त होकर बेचैनी और उदासी में अंगुलियां चटखाने लगी। इसके डैडी ऊंची आवाज़ में अपनी सुन्दर छड़ी को हाथ में घुमाते हुए उन दिनों की एक-एक घटना का वर्णन कर रहे थे, जब वे एस॰ पी॰ के पद पर थे।

मैं स्वयं उसके डैडी इनायतउला की बातें ध्यान और तन्मयता से सुन रहा था। लेकिन उसके चेहरे पर अचानक उभर आए उदासी के चिह्न अन्दर-ही-अन्दर मुझे दुखी कर रहे थे। अभी कुछ पल ही बीते थे वे मेरे यहां आये थे। इनायतउला और रशीदा ने ऑफिस से लौटकर चाय पी थी कि सलाम ने कहा "इनायतउला आये हैं, उनकी लड़की भी साथ है।" और जब इनायतउला छड़ी घुमाते हुए अन्दर आये तो उन्होंने बताया, "हम बस स्टैंड से आ रहे हैं, रशीदा बेटी और मैं – मैंने सोचा, आपसे मिलकर जाना चाहिए। कई दिनों से भेंट न हो सकी।..."

"आओ, बेटी रशी, बैठो, यह अपना ही घर है। यह हैं मेरे प्यारे सरवर साहब— ऐजुकेशन ऑफिसर यह एजुकेशन सम्माननीय पद है, मनुष्य आलसी अवश्य बन जाता है किन्तु करप्ट नहीं होता—वैसे मनुष्य मानसिक रूप से जागरूक रहे तो वह किसी हालत में करप्ट नहीं हो सकता। मुझे याद है जब मैं डी॰ एस॰ पी॰ के पद पर काम कर रहा था।..."

इनायतउला रिश्वत की बुराइयों पर भाषण देने के उपरान्त स्वभाववश पिछली बातों

पर गद्‌गद हो रहे थे और मैं अचेत होकर कभी रशीदा, कभी अपने कमरे को देख रहा था। इनायतउला ने जब रशीदा से मेरा परिचय कराया, तो उसकी घनी पलकें थरथराईं। घनी और नुकीली पलकों वाली काली चमकती आंखें उठीं, और एक शर्मीली नज़र सूर्य की चंचल किरण की तरह मेरे अस्तित्व की गहराइयों में उतरती चली गई। उफ, इन आंखों में कैसा चुम्बकीय आकर्षण था, जिसने पल भर में मेरी आत्मा को अपनी ओर खींच लिया था।

वह दोनों बैठ चुके थे और मैं अपने खोये हुए विचारों को सिमटने का यत्न कर रहा था। कमरे की चीजें अस्त-व्यस्त थीं और एक ओर कुछ मैले कपड़ों को देखकर मैं अन्दर-ही-अन्दर लज्जित हो रहा था। काश ! सलाम ने आज सफाई की होती; काश ! इनायतउला अचानक प्रकट न हुए होते। उनकी तो खैर दूसरी बात थी, परन्तु यह सुन्दर युवती, यह बिजली की भांति मेरे दिल पर छा गई थी। अपने विचारों को संयत करने के बाद मैं इनायतउला की बात को बीच में ही छोड़ते हुए उनके आज ऑफिस देर से आने का कारण पूछने लगा, परन्तु मैंने देखा मेरी सुन्दर अतिथि भी ज़रा उत्तेजित हो चली थी। उसने एक-दो बार उचटती निगाहों से कमरे का निरीक्षण किया। मैंने इनायतउला की बातें सुनते हुए कनखियों से उसे देखा। वह सुन्दर वेशभूषा में सुसज्जित थी। उसने एक भारी-सी स्वैटर पहन रखी थी। स्वैटर के बटन शीशे की भांति चमक रहे थे, उनकी चमक रह-रहकर उसके कपोलों को छू जाती थी। वह छरहरी कोमलांगी युवती थी, सेब के बगीचों के खुले सुगन्धित वातावरण में पलने वाली। जिसके वक्ष की सुडौल उठान मुझे यों ही रह-रहकर असहज किये दे रही थी।

अचानक वह अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी हुई। इनायतउला चौंक पड़े। मेरी दशा भी अजीब-सी हो गई। 'अच्छा चलते हैं, रशीदा थकी हुई मालूम होती हैं। चलो रशी, चलते हैं।''

''सरवर साहब ! आप हमारी कुटिया पर कल आयें, सण्डे है, चाय हमारे साथ पी लीजिएगा। देखिये, अवश्य आइयेगा।''

''पर, चाय पिये बिना जा रहे हैं, सलाम ने तैयार कर ली होगी।''

''अवश्य पियेंगे, परन्तु किसी और समय, ठीक है ना ? इस समय आराम करना चाहता हूं।''

वह चलने लगे तो रशीदा बिना मेरी ओर देखे, डैडी के कुर्सी से उठते ही कमरे से निकलकर बाहर हो गयी। और मैं क्षण भर को विचित्र से अंधेरे संसार में लुप्त हो गया।

रशीदा ने मेरा दिल तोड़ दिया था। मेरा व्यक्तित्व घायल हो गया। कितनी अभि-मानी है, सुन्दरता के नशे में चूर, कितनी सुगमता से वह मुझे भूल गई। पल भर के लिए भी मेरे कमरे में ठहर न सकी। शायद इस कमरे में उसकी सांस घुट गई थी या मुझे देखते वह उकताहट-सी महसूस करने लगी थी।

वह जा चुके थे। सायंकालीन साये बाहर सेब के बगीचों में फैल गये थे और मैं विवश होकर दांतों से नाखून कुतरते हुए, उदास सायों में गुम हुआ जा रहा था। आज तक किसी लड़की के ऐसे कठोर व्यवहार से मेरा पाला न पड़ा था। जब मैं कॉलेज में रहा, डिबेटिंग क्लब का सेक्रेटरी रहा। कई चंचल लड़कियां मुझसे मिलने में गर्व अनुभव करती रही थीं। मेरी आकृति कुछ ऐसी बुरी न थी परन्तु रशीदा···। उसके उजले माथे की रेखाएं तेज़ सूइयां बनकर मेरे दिल को बेध रही थीं। मैं उस रात आदत के अनुसार सो न सका। कई बार आंख

खुली और आग के विस्तर पर बेचैनी से करवट बदलता रहा। मुझे आत्मग्लानि हो रही थी। मैंने अन्त में यही निर्णय किया…मैं इसके विषय में कभी सोचूंगा भी नहीं। रशीदा मेरी क्या लगती है ! मेरा और उसका क्या सम्बन्ध है ! वह सुन्दर, धनवान है तो क्या हुआ ! मैंने निश्चय किया कि सवेरे उनके यहां नहीं जाऊंगा और उनसे सदा के लिए सम्बन्ध तोड़ दूंगा।

धूप की तपन कुछ कम हो चली थी। सामने काली पक्की सड़क चमक रही थी और बगीचों में सेब के वृक्षों के साये लंबोतरे होने लगे थे। वृक्षों की डालियों पर हलकी-सी धुंधली हरियाली दिखाई दे रही थी। हवा में भीनी-भीनी सुगन्ध रची हुई थी। सारे बगीचे इनायतउला की स्वर्गवासी पत्नी की सम्पत्ति थे। कुछ लोगों का कहना है कि यह इनायतउला की निजी सम्पत्ति है जो उन्होंने पुलिस में नौकरी के समय प्राप्त की थी। सलाम, जो इसी इलाके का रहने वाला है, कहता है कि सम्पत्ति इनायतउला की पत्नी की थी जो उन्होंने ज़बर-दस्ती छीन ली थी। और इसी मानसिक आघातवश वह मर गईं। सलाम ने यह बात अपने बाप से सुनी थी जो किसी समय में इनायतउला के हाथों पिट चुका था। जितने मुंह उतनी बातें। मुझे उन बातों से क्या लेना ! मैंने आज तक इन बातों पर कभी न सोचा था। तीन महीने हो गये बदलकर यहां आए, परन्तु आज इनायतउला के बारे में भिन्न-भिन्न विचार व्याकुल कर रहे हैं। मैंने एक लम्बी सांस ली। आखिर यह सोच मुझे क्यों घेर लेती है। मैं तो रशीदा के बारे में कुछ भी नहीं सोचना चाहता परन्तु इस लड़की ने जैसे मुझ पर जादू-सा कर रखा है। मैं केवल उसकी एक झलक देखना चाहता था केवल एक झलक, ताकि मेरी जलती हुई आंखों को ओस की ठंडक मिले और मैं रात को चैन की नींद सो सकूं। अगर वह मुझे नज़र न आई, तो आज की रात भी आंखों-आखों में कट जायेगी और ज़िन्दगी की इतनी पहाड़-सी रातें ! मैं एक अनोखी कल्पना में डूबने उतराने लगा। अपने पर लाख संयम रखने के बावजूद मैं इनायतउला के मकान के गेट की ओर मुड़ चला। कच्ची ईंटों की दीवारों को हरी बेलों ने अपनी लपेट में ले लिया था। दिल की बिखरी धड़कनों ने गेट की उढ़की हुई सांकल हाथों से हिलायी। अन्दर पूरी खामोशी थी। मैंने फिर जंजीर हिलायी। अन्दर से आई कुत्ते की भों-भों ने मुझे डरा.सा दिया। सहसा भीतर से पतला नारी-स्वर कुत्ते को डांटता-सा मुखरित हुआ 'रशीदा'।

मेरे खुदा, मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूं। वह भरपूर दृष्टि से देख रही थी। उसकी नज़र में सवेरे का प्रकाश फूट रहा था। और मैं उस प्रकाश में सिर से पांव तक नहा गया था। उसके होंठों के कोने में ठिठकी मुस्कान क्षण-भर को मुझे मुग्ध कर गयी। वह पल कितना सुखद था। मैं सुगन्ध की लहरों में जैसे तिर उठा।

'अन्दर आइये !'

उसके स्वरों की पहली झंकार से मैं चौंक पड़ा। इस मुस्कराहट में कितनी सच्चाई थी। मैंने कठिनता से अपने आपको सम्भाला। मैंने सोचा तक न था कि रशीदा मेरे प्रति इतनी उदार हो सकती है। गेट के अन्दर आकर गुलाब की महक से मैं ज़रा ताज़ा हो आया। हवा के झोंके से रशीदा के रेशमी आंचल में सरसराहट पैदा हो रही थी। उसके बालों के गुच्छे लहराने लगे। सहमे-सहमे पग उठा रही थी। मेरी दृष्टि फिर एक बार उठी। उसकी सुडौल देह, उसकी बाहें, कोमल तथा पतली कमर संगमरमर के समान थी। मेरी नज़र झुकी हुई थी। हम चाय पी चुके थे और इनायतउला आज से चालीस साल पहले की घटना सुना रहे थे कि किस प्रकार हत्या करके असली हत्यारा भाग गया था। एक निर्दोष को फांसी के फंदे पर लटकाया जा रहा था।

इनायतउला ने दस दिन के अन्दर मुकदमे की धारा को मोड़ दिया और असली हत्यारे को दंड दिलवाया। इस घटना को सुनाते हुए इनायतउला यों ही अपनी छड़ी घुमाते रहे। मैं उनकी स्मरणशक्ति पर हैरान हो रहा था कि चालीस साल पहले बीती हुई घटना को इस प्रकार बखान रहे थे जैसे किताब के पन्ने उलट रहे हों। इनके बीते क्षण, इनके लिए जिंदा हैं नहीं तो इनकी उम्र अब ७५ वर्ष से कम क्या होगी, उनके पीले लम्बे मुख पर गहरी रेखाओं का जाल बुना हुआ है।

रशीदा उनकी सबसे छोटी लड़की थी। बड़ी लड़की का विवाह शहर में किया था। अब दो लड़कियां उनके जीवन की सम्पत्ति थीं। चाय रशीदा ने बनाई थी और वह टेबुल पर 'सर्व' कर रही थी। बात करते हुए रह-रहकर वह मेरी ओर भरपूर दृष्टि से देखती। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मैं उसकी आंखों की गहराई में समा चुका था। मैंने ऐसी अर्थपूर्ण आंखें और कहीं न देखी थीं। लगा, जैसे दृष्टि में भरा अजनबीपन अब दूर होता जा रहा है। और हम एक दूसरे में समाते जा रहे हैं। मेरा दिल बेचैनी से धड़क रहा था। मेरे लहू में जैसे उफान उठ रहा था। धूप ढल रही थी। गुलाब की झाड़ियों के साये महक रहे थे और जब रशीदा फूलों की ढाल-सी लचकती हुई कुत्ते को डांटते हुए मुझे गेट पर छोड़ने आई तो मुझे ऐसा लगा जैसे यह कभी खत्म न होने वाली सड़क है जिस पर दूर तक गुलाब खिले हुए हैं।···रशीदा मेरे साथ है। 'फिर कब आएंगे ?' गेट से बाहर निकलते हुए रशीदा बोली।

उफ, मेरे अल्लाह ! इसकी आवाज में कितना अपनापन है, कितनी मिठास। इसी मिठास में भीतर की थरथराहट भी घुल आई थी 'जब आप बुलायेंगे', मैंने भावनाओं के तूफान को सीने में रोकने का यत्न किया। मेरे होंठों पर अनायास मुस्कराहट फैल गई। मेरा गला सूख गया था। मेरे होंठ कांप रहे थे। मैं उसे कहना चाहता था कि तुम कितनी प्यारी हो, तुमने मुझे असीम प्यार दिया है। 'रशीदा' तुमने मेरी रग-रग में अमृत घोल दिया, तुम कितनी महान हो, मैं कुछ भी नहीं कह सका। शायद मेरी बहकी निगाहों से वह मेरी भावनाओं में उठे उफान के हलचल का अनुमान लगाने में सफल हो गई थी इसीलिए इन निगाहों को सहन न कर सकी। उसकी घनी पलकें थरथराईं और उसके कपोलों का गुलाबी रंग निखर उठा। निगाहें नीचे किये हुए वह अपनी लम्बी मरमरीं अंगुलियों से गेट की सांकल खनखनाते हुए बोली, 'कल आइयेगा न ?'

'कल ? नहीं, नहीं कल नहीं।—कल हम शहर जा रहे हैं। परसों आयेंगे।'

'मैं कल डैडी से कह दूंगी। शायद उस दिन गांव जायेंगे—मैं बात कर लूंगी, परसों आइये ?'

'अच्छा—आ जाऊंगा।'

जब मैं घर वापस आया तो मेरे सीने में एक अजीब दर्द चुटकियां ले रहा था।

मेरा मन अशान्त था। हम एक घंटे से साथ बैठे थे और बातों में मगन थे। इनायतउला शाम को लौट रहे थे। सारे मकान पर सन्नाटा छाया हुआ था। गेट के पास बूढ़ा माली काम में मग्न था। रसोई में रसोइया खाना बना रहा था। लम्बे-लम्बे कानों वाला कुत्ता हमारे आसपास कुछ देर चक्कर काटता रहा था और फिर हरियाली पर लोटकर धूप सेंकने लगा था। रशीदा बातें कर रही थी। बातें करते-करते वह कहीं खो जाती थी। उसने कहा था कि इस ज़िन्दगी के शोरगुल से वह घबरा गयी है और डैडी के पास जाना चाहती है। यहां का एकाकी-

पन तथा सन्नाटा उसे पसन्द है किन्तु कभी-कभी इस एकाकीपन से वह इस प्रकार ऊब जाती है कि उसे शहर जाना अच्छा लगने लगता है।

हवा के हल्के झोंके से सेबों की कलियों की कोमल पंखुड़ियां बिखर रही थीं और नीचे हरियाली पर श्वेत पत्तियों की तहें चढ़ रही थीं। जैसे श्वेत नरम मलमल का फर्श बिछा जा रहा हो। हवा का लहराता आंचल सुगन्धित हो रहा था। कलियों से महके हुए हम वृक्ष की पहली छांव में बैठे थे। इनायतउला मेवे के गिरते हुए भाव की शिकायत कर रहे थे। लेकिन मैं अब कुछ भी नहीं सुन रहा था। मेरी दशा अजीब सी होने लगी। रशीदा कुछ मिनट चुप और खोई खोई-सी बैठी रही और फिर अचानक अपनी लम्बी लम्बी अंगुलियां चटकाती हुई उठी और अन्दर चली गई। एक घण्टा बीत गया परन्तु वह वापस न आई। मेरा दिल डूब रहा था। मेरी बेचैन नज़रें रह-रहकर बराण्डे की ओर उठतीं और उदास होकर इनायतउला के झुर्रियों भरे चेहरे के दलदल में धंस जातीं।

क्या रशीदा अन्दर जाकर मुझे भूल बैठी है? क्या उसे मेरे दिल की बेचैनी और पीड़ा का एहसास नहीं रहा? क्या वह इतनी कठोर है? वह जानती नहीं कि मैं हर सांस में केवल उसका नाम लेता हूं। काश, यहां इनायतउला न होते! मैं दौड़कर अन्दर कमरे में घुस जाता और रशीदा को अपनी बाहों में छुपाकर उसकी नाराज़गी का कारण पूछता। मुझे इस समय ऐसा अनुभव हो रहा था जैसे मेरी आत्मा रो रही है। आंसुओं का बांध मेरी पलकों की ओट में बेचैन है। काश! इनायतउला यहां न होते। रशीदा मुझे तनहाई में मिलती।

मैं उदास होकर इनायतउला से जाने की आज्ञा लेने लगा तो मुड़कर मैंने देखा रशीदा बंगले की दूसरी मंजिल की खिड़की पर थी, मैंने व्याकुल निगाहों से उसकी ओर देखा तो वह तुरन्त खिड़की की ओट में छिप गई। खिड़की का नीला पर्दा हवा के झोंके से फड़फड़ा रहा था।

मैं रविवार को वहां गया। इनायतउला से बातचीत हुई। उन्होंने बीते हुए दिनों के पृष्ठ उलटाये और बीच-बीच में जोश में आकर छड़ी घुमाते रहे लेकिन मेरा ध्यान रशीदा की ही ओर था। रशीदा तुम कहां हो, मेरी आत्मा चीख रही थी। रशीदा की एक झलक भी मैंने नहीं देखी। शायद वह घर में नहीं, शायद शहर गई है किन्तु इनायतउला ने कहा, "रशी अन्दर लेटी है। अजीब लड़की है! इतनी देर तक क्यों सोयी रहती है!" मैं दिल पर भारी पत्थर रख कर वहां से चला गया।

मैं दूसरे दिन फिर वहां गया तो ज्ञात हुआ कि इनायतउला शहर गये हैं। रशीदा किसी सहेली के यहां गई थी किन्तु नौकर की हकलाहट से उसके कथन की सच्चाई पर सन्देह हो रहा था। मेरे पांव तले से धरती निकल गई। मैंने शान्ति से काम लिया। मैं तीसरी बार भी वहां गया। लेकिन रशीदा न मिली, मैं चौथी बार भी वहां गया, पांचवी बार, बार-बार; बार-बार गया—लेकिन रशीदा न जाने कहां खो गई थी और मैं दाढ़ी बढ़ाये पागलों की तरह स्वप्नहीन आंखें लिए, पीले चेहरे और थकी हुई बोझिल देह के साथ उद्देश्यहीन, उसकी एक झलक देखने के लिए तरस रहा था लेकिन—!

कोई पन्द्रह दिन के बाद वह मुझे चौराहे पर अपने नौकर के साथ आती दिखाई दी। मेरी आंखें चमक उठीं। मैं भावनाओं के ज्वार में बह गया। मैंने आगे बढ़ना चाहा। परन्तु उसने दूर से ही नौकर से कुछ कहा। और, अनजान-सी बनकर बस स्टैंड की ओर चल दी। उसने मुझे देख लिया था। नौकर ने मेरे पास से गुज़रते हुए लापरवाही से देखा परन्तु वह मुझसे आंखें न मिला सकी। उसे अपनी मालकिन के कहने के अनुसार मुझसे बात करने की हिम्मत न हुई। वे

लोग आगे चल दिए और बस स्टैंड पर मेरी ओर पीठ करके खड़े हो गए। मेरी देह पसीने से भीग चुकी थी, मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे मेरे लहू की रवानी थम गयी है। मैं अर्थहीन दृष्टि से उन दोनों को बस में चढ़ते देख रहा था। बस दूर सफेदे के वृक्षों में छिप गई थी।

मेरी पलकों पर कई आंसू थरथरा रहे थे। मैं बोझिल कदमों के साथ घर की ओर लौटने लगा। मेरा दिमाग खाली था। बिल्कुल खाली, वीरान, उदास – सेब की कलियों की महक हवा में फैल रही थी।

तीन वर्ष बीत गये। एक दिन वह मुझे शहर के बस स्टैंड पर दिखाई दी। मेरी दृष्टि लड़खड़ाई। मेरे पग डगमगाये। मैं दुविधा में पड़ गया। वह बोली "आप मुझे पहचानते नहीं।" उसका कोमल स्वर और अधिक कोमल हो गया था। 'मैं आपको पहचान चुका हूं, बहुत पहले बरसों पहले।" मेरे उत्तेजित स्वर से वह ज़रा भी न हिचकिचाई।

"इन्सान को पहचानना सरल नहीं होता, इन्सान के चेहरे पर कितने पर्दे पड़े हुए होते हैं।" वह मेरे पास आ चुकी थी। मैं बेबसी की अवस्था में खड़ा उसे देख रहा था। सचमुच मैं अभी तक उसे पहचान न सका था।

"मैं अभागिन अवश्य हूं किन्तु मेरे दिल में किसी प्रकार का खोट नहीं। मेरा दिल शीशे की भांति स्वच्छ है सरवर साहब, मैं अजीब नारी हूं। आपको धोखे में नहीं रखना चाहती थी। मैंने आज तक किसी को धोखा नहीं दिया। मैं···आपके योग्य नहीं।"

मैं आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से देखता रह गया। उसके मुख पर विश्वास था किन्तु उसके स्वरों की खनक धीमी पड़ रही थी। "आपको ज्ञात नहीं सरवर साहब, मैं एक बच्चे की मां हूं। मेरी बेटी शहनाज कानवेंट में पढ़ती है।"

"आ···प···की ?"

"जी हां, मेरी बेटी।"

उसने सूखे होंठों पर जुबान फेरी। "मैं बुझी हुई आग हूं। मेरी आत्मा में धुआं ही धुआं भरा है। मुझमें क्या रखा है। मैं एक विधवा हूं।"

यह कहकर वह चल दी और बस में चढ़कर घर की ओर चल पड़ी। मैं निस्तब्ध खड़ा था।

मैं रशीदा से कुछ न कह सका। यह भी नहीं कि तीन साल पहले जो आग मेरे दिल में लगी थी उस आग से अब भी मेरी देह तथा आत्मा झुलस रही है और वह किसी भी हालत में क्यों न हो मुझे...!

कंडक्टर की आवाज़ से मैं चौंका। मेरी बस छूट रही थी। □

अनुवाद : राजभूषण गंजू

ढर्रे से अलग कुछ कविताएं

□ डॉ० ओमप्रकाश गुप्त

किसी युग की कविता में जितनी विविधता हो, आलोचना-कर्म उतना ही कठिन हो जाता है। एक समय था जब एक ख़ास किस्म की कविता लिखी जाती थी या की जाती थी और उसकी नाप-जोख के लिए एक ख़ास सांचा भी मौजूद रहा करता था। प्रतिमान निश्चित थे, परिणाम लगभग एक किस्म के थे तो परिणाम भी मुश्किल नहीं थे। आज भी यदि कविता सामान्य ढर्रे पर चलती रहे तो आलोचक का काम आसान हो जाता है। उदाहरण के लिए आक्रोश और विद्रोह को आधार बनाकर लिखी जाने वाली कविताओं के बारे में कुछ कहना काफ़ी आसान होता है। व्यवस्था आपके सामने है, इसके बखिए कुछ कवियों ने उधेड़े हैं; कुछ आप उधेड़ डालिए। विमल स्वयं इस प्रकार की कविता से असंतुष्ट है, इसलिए कहता है—

चीखते-चिघाड़ते इन/कवियों में/और होटल के रेडियो में क्या फर्क है ? (पृ० ५१)

गंगा प्रसाद विमल की प्रस्तुत कविताएं अलग किस्म की हैं। इसलिए आलोचक को सावधान रहना पड़ता है।

'बोधिवृक्ष' स्पष्टतः वह सृष्टि-वृक्ष है जिसकी परिकल्पना सभी संस्कृतियों में विद्यमान है। परिवर्तन की हवाएं बहती रहती हैं किन्तु बोधिवृक्ष वहीं बना रहता है—

कितनी बार गुजरा है काल, तुमसे होकर/सिर्फ झरते हो/फिर हरे हो जाते हो/वसन्त में/फिर तुम्हारे नीचे/आ जाते हैं भिक्षु···। (पृ० १०)

'पहाड़' एक ऐसी मनःस्थिति का प्रतीक है जहां कवि अपने व्यस्त जीवन से अलग होकर जा बैठता है और नयी योजनाएं बनाता है। विमल के प्रतीक इसी प्रकार अपना अर्थ स्वयं स्पष्ट कर देते हैं —

आते ही हैं याद वे पहाड़/जहां विद्रोही चले जाते हैं/और फिर लड़ते हैं/लौटकर आजादी के लिए···। (पृ० ६२)

बोधिवृक्ष; लेखक : डॉ० गंगाप्रसाद विमल; प्रकाशक : प्रतिमान प्रकाशन, २२२२ रविदास गली, दिल्ली ११०००६; मूल्य : पच्चीस रुपये।

'आत्मबोध' शीर्षक कविता में मनुष्य के अस्तित्व से जुड़ी धारणा प्रकट हुई है—सीधे-सादे तरीके से—कि हम बहुत बौने हैं, कि यह लघुपन ही हमारा अभिशाप है, वरदान भी —

सिर्फ मनुष्य ही/कैद है अंतरिक्ष में/जो खुद को/देख सकता है/थोड़ा ऊपर उठकर।

(पृ० १९)

मनुष्य की सारी कमजोरी और सामर्थ्य थोड़े-से शब्दों द्वारा व्यक्त हो गई है।

विमल की कविताओं में 'स्पेसिंग' भी अपनी भूमिका ठीक निभा रही है। इसका सशक्त उदाहरण है चार शब्दों की छोटी-सी कविता जो पूरे पृष्ठ पर फैली हुई है। ये चार शब्द हैं – ध्यान, प्रणाम, समर्पण, समाधि। **पूर्णता** शीर्षक के नीचे फैले ये चार शब्द साधना का स्पष्ट क्रम प्रस्तुत करते हैं। शीर्षक भी कविता का अभिन्न अंग है। स्पष्टतः पहली पंक्ति को कविता का शीर्षक देकर काम चलाने के दिन बीत चुके हैं। इस कविता को सामने रखकर मैं सोचता रहा कि क्या इन शब्दों के मुद्रण का क्रम उलटाया जा सकता है? यानी 'ध्यान' से 'समाधि' की ओर ऊपर की दिशा में कैसे चला जाए? रास्ता मुझे नजर नहीं आया।

'बोधिवृक्ष' में संकलित कुछ कविताओं पर प्रश्नचिह्न भी लगाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए 'हिंसा' शीर्षक कविता एक छोटा-सा चुटकुला-जैसा लग सकती है। लेकिन मैं पहले ही कह चुका हूं कि कविता जब ढर्रे से अलग चले तो प्रश्नचिह्नों का लगना स्वाभाविक है। आशा करनी चाहिए कि विमल की और कविताएं पढ़ने को मिलेंगी और वह अपने इस डर को तोड़ेंगे जिसने पुस्तक की भूमिका में इनसे कहलवाया है, "कविताओं के बड़े-बड़े जुलूसों के सामने अपनी कविताओं को छिपाने के अतिरिक्त विकल्प भी क्या हो सकता था?" जुलूस से अलग रहने के लिए छिपाना जरूरी नहीं होता। □

मनःस्थितियों और स्थितियों की कविता

□ डॉ० ओमप्रकाश गुप्त

इस कविता-संग्रह में सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम की गत दो दशक के दौरान लिखी गई छोटी-बड़ी इकसठ कविताएं हैं। कथ्य या शिल्प की दृष्टि से ये कविताएं आनन्दम की काव्य-यात्रा का कोई नया मोड़ प्रस्तुत नहीं करतीं तो भी कवि की पहचान स्थापित करने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता।

इन कविताओं में विविध मनःस्थितियां तथा स्थितियां अंकित हैं। इन अंकनों के पीछे किसी गहरे दर्शन का आभास न भी मिले तो भी यह साक्ष्य तो मिल ही जाता है कि आज का कवि सामान्य स्थितियों के सीधे-सादे चित्रण को अंकित करना अपना कर्तव्य समझता है। उदाहरण के लिए **सम्बोधन—२** कविता में किरण के प्रति कवि के ये शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

कमलपत्र पर डोलता जल-कण; लेखक : सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम; साक्षर प्रकाशन ४०२ अम्बकला, जम्मू; मूल्य : तेरह रुपये।

ऐ किरण/तनिक आ मेरे कमरे में/और अपने अति सूक्ष्म स्पर्श से जगा दे उनको/वे गाएंगे चीं चीं, चूं चूं/फुदकेंगे दाएं बाएं/मेरे आगे पीछे/तब मैं दूंगा उनको चुगने को दाने/वे तुझको दुआएं देंगे। स्पष्टतः किरण कवि की भावनाओं को उत्प्रेरित करने का साधन है तथा पक्षी उसके हृदय के भाव हैं।

कटु सत्य कविता में आनन्दम का कवि कथ्य का और अधिक सरलीकरण कर देता है। आर्थिक सुविधाओं का प्रलोभन देशभक्ति की भावना को किस प्रकार पछाड़ देता है, इस सत्य का अंकन सीधे और बहुत हद तक सपाट शब्दों में हुआ है।

कुछ कविताओं में कवि के चिन्तन का विरोधाभास भी प्रकट हुआ है। उदाहरणार्थ, **'मत कर चिन्ता'** में कवि मानता है कि युद्ध से चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि युद्ध कभी किसी संस्कृति या सभ्यता का विनाश नहीं कर पाया है। इस आशावाद के विपरीत **'काल पुत्र के नाम'** कविता में उसकी आशा का निराशा में अवसान हो जाता है।

कमल-पत्र पर डोलता जल-कण कविता सुभद्राकुमारी चौहान की **'बचपन'** जैसी कविता की याद दिला देती है तो **'भावगीत'** में कवि वर्डस्वर्थ की **'डैफोडिल्स'** तथा **'रीपर'** जैसी कविताओं की बराबरी करता दिखाई देता है।

आनन्दम के कवि-कर्म को समग्ररूप में समझने के लिए इन कविताओं का अध्ययन आवश्यक है। वैसे, 'कांप-कांप रहा चक्रबंधु' जैसी रचनाओं में आनन्दम अपने काव्य की ऊंचाइयों का स्पर्श कर चुका है। आशा है, उनकी आगामी पुस्तक कवि की विकासयात्रा का विकसित पड़ाव प्रस्तुत करेगी। □

अनुवाद के अनुवाद का काव्यरंजन

□ डॉ० रतनलाल शांत

आज मिथक को कल्पनाधारिता से उतारकर समकालीन सत्य के धरातल पर रखने की कोशिश हर साहित्य में हो रही है; पर जब मिथक ही सत्य था और देवी देवताओं को अपने दैनंदिन जीवन में आहूत करके अपने सुख-दुख का भागी माना जाता था, तब यूनानी नाटककारों ने नाटक लिखकर उन्हें कम-से-कम इतना तो किया कि मानव नियति का भागी तथा भोगी बनाया। युरिपिदीस का 'इलैक्ट्रा' इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। हिंदी में इसके आने से नाटक और समृद्ध होगा, ऐसी आशा की जानी चाहिए। श्री रामेश्वर प्रेम का अनुवाद बहुत हद तक नाटक की मूल संवेदना को संप्रेषित करने में सफल हुआ है। कोई साहित्य कृति जब मिथक को पुनर्सृजित करती है तो वह काव्यात्मकता से रंजित हो जाती है। 'इलैक्ट्रा' में, अन्य यूनानी नाटकों की तरह समूहगान हैं या फिर कहीं-कहीं लंबे एकालाप हैं जो पद्य की-सी गरिमा रखते हैं। प्रस्तुत अनुवाद में मूल का वह काव्यरंजन बना रहा है। यह कहना

ईलैक्ट्रा (नाटक)/मूल : यूरोपिटिस; अनु० : रामेश्वर प्रेम/प्रकाशक : किताब घर, दिल्ली/ मूल्य : बारह रुपये

ज़्यादा ठीक होगा कि अंग्रेज़ी अनुवाद का रंजन बना रहा है। हिन्दी वाले बहुत कम मूल भाषा पढ़-सीखकर अनुवाद करते हैं। जो सीख चुके हैं वे अपेक्षाकृत अधिक लाभकर काम करते हैं। परिणामतः हमें दूसरे दर्जे के अनुवादों से ही संतोष करना पड़ता है।

ख़ैर !

प्रस्तुत अनुवाद में कई जगह भाषा की अनगढ़ता अखरती है, जिसे लेखक एक बार खुद ही देखकर ठीक कर सकते थे। भले ही मूल अंग्रेज़ी के प्रति वफादारी की कोशिश की गई हो, पर हिन्दी को भी तो जंचनी चाहिए। उदाहरण—

निरंतर फूलते जिह्वाहीन अपराधों से भरी यातना की कहानी है। (पृ० २९) दिग्विजय की आकांक्षा समेत ट्राय की ओर चले थे (३४) तल्ख अतिथि। (वर्तनी दोष तलख) प्रार्थना न्यायपूर्ण है। न्यायपूर्ण विनती। विजय दो जयदाता (४४) मेरी मां से भूमिसात मेरे पिता ! (४५) लार्ड एगायेयनान का खुश्क राज था क्रन्दन करता (४८) अपने सहोदर बच्चों को खोकर (६२) (सहोदर केवल भाई या बहन हो सकती है) जो पहले था तम अंध पशु-सा (७१) □

सवाल अब भी मौजूद है

□ डॉ० चंचल डोगरा

अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'सवाल अब भी मौजूद है'¹ द्वारा प्रताप सहगल समकालीन कविता में अपनी पहचान बनाने में सफल रहे हैं। यह काव्य संग्रह—आकाश में सुरंग, व्यक्तिगत एवं अपने बाहर— तीन खण्डों में विभाजित है। यह तीनों खण्ड अनुभूतियों के क्षेत्रों का परिचय देते हैं। प्रताप सहगल ने अनुभूतियों के तीन आयामों के द्वारा विभिन्न मुद्दों पर प्रश्न उछाले हैं जो हर व्यक्ति की सोच को एक बार झिंझोड़ देते हैं।

'कविता के जरिए' इन्होंने कविता को एक नयी पहचान देने का प्रयास किया है। पुरानी रूढ़ियों की छाया से बचकर निकलते हुए कविता के ज़रिए अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं सहित सामाजिक व धार्मिक मुखौटों को नोच देना चाहते हैं वे। तभी तो दिखावों से मुक्त होकर वे आकाश में सुरंग लगा पाएंगे—

"मैं कविता के ज़रिए/मंदिरों में स्थापित बुतों/मठों में स्थापित ठूंठों/और मंचों पर स्थापित/नकली बातों को तोड़ना चाहता हूं।"

अव्यवस्था, अनुशासनहीनता और अन्याय के आतंक से आतंकित व्यक्ति का विद्रोह नपुंसक बन गया है। इस विरोध को शक्ति देकर अंतस के आतंक के निवारण के लिए ही शब्दों और गालियों की भाषा के त्याग का वक्त आ गया है अतः भाषा को हथियार नहीं वरन् हथियार को ही भाषा बनाना होगा—

सवाल अब भी मौजूद है (कविता संग्रह), कवि : प्रताप सहगल/प्रकाशक : देवदार प्रकाशन, ५९ सुभाष पार्क एक्सटेंसन, दिल्ली/मूल्य : बीस रुपये।

"कि भाषा सिर्फ शब्द नहीं होती न कविता/न गाली/हथियार भी एक भाषा हो सकती है।"

इन कविताओं द्वारा राजनीति पर भी प्रहार करने से प्रताप सहगल कहीं नहीं चूके हैं। जड़ता के भीतर छिपी विरोध की सूक्ष्म चिनगारी तक उनकी पहुंच से परे नहीं है। करोड़ों पेट जब पापड़ बन चुके हों, आंखों से असंख्य सवाल टपकते हों, तब बड़े-से-बड़े आश्वासन भी उनका जवाब नहीं हो सकते। प्रताप सहगल इस तथ्य से कतई अनभिज्ञ नहीं हैं कि सारा दोष राजतंत्र का ही नहीं है बल्कि समाज भी इस स्थति के लिए पूर्ण जिम्मेदार है; क्योंकि क्रान्ति के लिए लालायित व्यक्ति का साथ समाज केवल नारेबाजी तक ही सीमित कर लेता है। यद्यपि अन्याय और ग्लानि में रहते-रहते ज़िन्दगी इतनी आदी हो जाती है कि कहीं कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। कवि को इस बात का बेहद अफसोस है पर वह अपने अकेले वजूद के बावजूद समस्त जगत को झकझोर देना चाहता है।

विम्बों में आई सपाटबयानी भी चेतना के बन्द द्वारों को खुलने के लिए विवश कर देती है। भटका हुआ एकलव्य मार्ग निर्देशन के लिए द्रोण को खोज रहा है तो द्रोण युटोपियाई योजनाओं में लीन है। द्रोण की आवश्यकता आज के युवा वर्ग को ही नहीं बल्कि हर युग को होगी; इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता। 'आकाश में सुरंग' की अधिकांश कविताएं समाजार्थिक बदलाव की कविताएं हैं। अन्याय के सम्मुख समर्पित मानस को विचारों के ढेले से तरंगित करने का प्रयत्न किया गया है।

व्यक्तिगत खण्ड की कविताएं व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित हैं।

'आकाश में सुरंग' कीअपरि वर्तनीय स्थिति से विक्षुब्ध कवि के व्यक्तिगत अनुभवों की शुरुआत देह की चरम उपलब्धि को स्वीकारने से ही होती है। 'एक पुरानी याद से गुज़रते हुए' में भी वही बासी गंध है। वर्षों बाद पुराने स्वर्णिम क्षणों में खोना और उन्हीं रास्तों से गुज़रते हुए किसी और की अपनी स्थिति में कल्पना करना भी कोई नया आयाम नहीं दर्शाता और न ही महानगरीय भीड़ का संत्रास व भीड़ में अजनबीपन का एहसास किसी भी कोण से नयापन लिए हुए है। प्रणय के शाश्वत सत्य को उजागर करती कविता है 'इन्तज़ार और अभी।' वर्षों पहले मिले निमंत्रण की अब भी प्रतीक्षा है, इसमें उम्र का फैलाव भी व्यवधान नहीं बन सकता। हां, व्यवधान है तो केवल सामाजिक दायित्व का—

'जब हम तुम सभी धुंधलकों को पार कर आए, तभी, तुम्हारे और मेरे बीच, सामाजिक दायित्व के नाम पर एक भद्दी शक्ल आ गई!'

ये अनुभव प्रणय से गुज़रते हुए समाज तक पहुंच जाते हैं। सबसे बड़ी समस्या है दो पीढ़ियों के अन्तराल की। एक के स्वप्न दूसरे की आंखों में बिम्बों व प्रतीकों के अभाव में कैसे समा सकते हैं यही समस्या दोनों के बीच की दूरी को और बढ़ा देती है।

अपने से बाहर खण्ड की कविताएं व्यक्तिगत अनुभवों से बाहर की कविताएं हैं।

'रामकली' हर घर, बाजार और दुकान पर दिखाई देती है।

इसमें उस स्त्री का बिम्ब प्रतिबिम्ब है जो आधा दर्जन बच्चों को न सभ्य परिवेश दे सकती है और न ही पीछे लौटकर अपनी अल्हड़ता जी सकती है। भूख की इकाई को मिटाने के लिए संघर्षरत रामकली तीस साल तक की उम्र में ही कई ज़िंदगियां जी चुकी है।

इसमें कहीं-कहीं नये प्रतीकों का संयोजन भी है। मश राक्षस पूरी की पूरी पीढ़ी को ही अकर्मण्य बना रहा है और त्रासद तथ्य यह है कि यह मानव भीतर से बौना होते हुए भी बाहर

से बड़ा दिखने का ढोंग करता था पर इस राक्षस के सामने बाहरी सीमाएं भी सिमटती जा रही हैं। इसके साथ ही बेकारी की समस्या भी मुंह बाए खड़ी हो गई है जिसका कहीं निस्तार दिखाई नहीं देता।—

'आदमी की मुसीबत देखिए/अंदर से वह पहले ही छोटा था/और उसके बाहर का बड़ापन भी/खा गया है/यह मश राक्षश।'

प्रताप सहगल ज़िन्दगी के विभिन्न मोड़ों से गुज़रते हुए व्यक्ति के मानस को झकझोरते हुए बढ़ते जाते हैं। कोई भी क्षेत्र इस काव्य-संग्रह की यात्रा में अछूता नहीं रहा। वह क्षेत्र चाहे राजनीति का हो या समाज का या अर्थ का। हर क्षेत्र में ये परत दर परत नयी संभावनाओं के द्वार खोजते चलते हैं.। फिलहाल तो प्रतीक्षा है मुट्ठियों में बंद क्रांति और मुक्कों में बंद आक्रोश के आज़ाद होने की। □

तरल भावुकता और सुकुमार आदर्शवाद की सीमा

□ संजना कौल

मुक्तिबोध ने 'समीक्षा की समस्याएं' में लिखा है, "'समीक्षक का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह किसी भी कला कृति के अन्तर्तत्त्वों को - उसके प्राण तत्त्वों को—भावना-कल्पना को हृदयंगम करे, और एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित अन्तरधारा की गति को, और उसकी अन्तिम परिणति को सहानुभूतिपूर्वक अच्छी तरह समझे और तदुपरान्त उसका विश्लेषण करे।

रामकृष्ण सुधाकर के उपन्यास 'सीमा' के फ्लैप पर छपे कुछ वाक्यों ने मेरा ध्यान आकर्षित किया, "एक अनाथालय में पली लड़की यतीम होती है। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती।'''उसके जीवन में एक युवक मनोज आया। उसने उसे सपने दिए।'''हर आदर्शवादी युवक की तरह उसे भ्रष्टाचार से नफ़रत थी। उसने भ्रष्टाचारी इन्जीनियर को आड़े हाथों लिया।"

यह सब पढ़कर मुझे लगा था, उपन्यास के प्राण-तत्त्व अनाथालय के जीवन की ग्रन्थियां, यतीमखाने में पली हुई लड़कियों की जवान आकांक्षाएं होंगी और विशेष दिशा की ओर प्रवाहित उसकी अन्तर्धारा होगी और होगा देश की वर्तमान स्थितियों के प्रति लेखक का सन्तुलित विद्रोह। परन्तु इस सबसे अलग, उपन्यास में सीमा और मनोज की प्रेम-गाथा है जिसमें अचला एक खलनायिका का रोल निभाती रहती है। बीच में मनोज की इंजीनियर के साथ छोटी-सी झड़प दिखाकर मनोज को 'हीरो' बनाने की पूरी कोशिश की गई है और वह बन गया है हिन्दी फिल्मों का वही परम्परागत नायक—बड़े बाप का बेटा, स्त्री-सौन्दर्य प्रेमी, आदर्शवादी और भाषणबाज !

यहां यह न समझा जाए कि मुझे सुधाकरजी के सीमा और मनोज की प्रेम कहानी लिखने पर कोई आपत्ति है। प्रेम कहानी या प्रेमोपन्यास लिखना कोई साहित्यिक अपराध

१. सीमा (उपन्यास)/लेखक : रामकृष्ण सुधाकर/प्रकाशक : किताब घर, दिल्ली/मूल्य: २५ रुपये

नहीं है। वैसे भी हिन्दी साहित्य में प्रेम-कथाओं और अच्छी प्रेम कविताओं की कमी बहुत देर से महसूस की जा रही है। किन्तु प्रेम को आधुनिक संदर्भ देकर, उसे उसकी पूरी जटिलता के साथ अभिव्यक्त करना आज के प्रेमकथाकार का सबसे बड़ा दायित्व है। आधुनिक युग में जब स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के रूप ही बदल गए हैं, प्रेम जैसी मानवीय अनुभूति भी जटिल हो गई है। इसे परत-दर-परत उघाड़कर देखने की ज़रूरत है और 'सीमा' में मनोज और सीमा के प्रेम को सुधाकर जी ने जिस सतही और फ़िल्मी अन्दाज़ में चित्रित किया है, वह उपन्यास की एक बहुत बड़ी कमजोरी बन गया है।

पहले तो मनोज पांच लड़कियों के ग्रुप में एक गंभीर और सौम्य लड़की को देखता है। उन सारी लड़कियों का फोटो खींचते हुए वह अपना कैमरा उस लड़की के पास भूल जाता है और चित्रकार भी है मनोज, सो अगले ही पल उस लड़की का चित्र बनाने में व्यस्त हो जाता है। (अच्छा होता, सुधाकरजी ने मनोज को सौन्दर्योपासक चित्रकार न कहकर भावुक कलाकार ही कहा होता तो उनसे यह शिकायत न होती कि सौन्दर्यबोध को उन्होंने कितने सतही अर्थ दिये हैं।)

यह समझ में नहीं आता कि हमारे देश के अनाथालय इतने उदार कब से बन गए कि अनाथालयों में पलने वाली लड़कियों के पास दूरबीनें और अपने कैमरे आ जाएं और जब इस देश की अच्छी-खासी, कॉलेजों में पढ़ने वाली मध्यमवर्गीय लड़कियों के मन स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को लेकर ग्रंथियों से भरे हों, हमारे यतीमखाने की लड़की इतने खुले दिमाग़ की कैसे हो गई कि एक अनजान नवयुवक को देखते ही कह बैठे, 'आप हमारा एक फोटो खींच देंगे क्या?…देखिए, आप हम सब लड़कियों का एक फ़ोटो खींच दीजिए।' (पृ० १६) यह आग्रह अन्य शोख लड़कियां नहीं, सीमा जैसी लज्जालु लड़की कर बैठती है, ध्यान दिया जाए।

शायद कुछ लोग यह तर्क दें कि परिवार में पलने वाली लड़कियां मर्यादाबद्ध होती हैं जबकि अनाथालय में पलने वाली लड़कियों के साथ कोई पारिवारिक मर्यादा नहीं जुड़ी होती। किन्तु अनाथालय में पलने वाली लड़कियां बेशक पारिवारिकता से दूर होती हैं, पर उन्हें मर्यादा-बद्ध ही नहीं, मर्यादाजड़ भी बनाया जाता है। अनाथालय की मर्यादाओं से जड़।

यही प्रकट होता है कि सुधाकरजी ने यतीमखाने के जीवन को निकट से नहीं देखा। अनाथालय में पलने वाले लोग किन ग्रंथियों में जकड़े होते हैं, उनका ग्रन्थिल मन मानवीय अनु-भूतियों (जिनमें प्रेम भी आता है) को किस रूप में लेता है और पारिवारिक, सामाजिक संबंधों के प्रति उसका अनाथालय निर्मित मानस क्या और क्यों सोचता है, यह सब 'सीमा' में कहीं नहीं मिलता। इसी पक्ष को सुधाकरजी ने उभारा होता तो उपन्यास काफी कुछ सशक्त बन सकता था। अनाथालय के वातावरण की पूरी जटिलता के साथ सीमा का चरित्रांकन किया गया होता तो हो सकता था हिन्दी उपन्यास को एक और सशक्त नारी-चरित्र मिल जाता।

मनोज के बारे में दावा किया गया है कि 'पिता की दौलत उसे न भाई। उसने अपने लिए नया रास्ता चुना' (फ्लैप) केवल दावा ही है यह, सुधाकरजी ने उसे इस रूप में चित्रित करने की भरसक कोशिश की है और बुरी तरह असफल रहे हैं। पूरे उपन्यास में मनोज इस देश के साधारण लोगों के लिए एक छोटी-सी लड़ाई भी नहीं लड़ पाता।

यह बात आश्चर्यचकित करने वाली है कि मनोज जब अपनी याददाश्त खो चुका है तो घर पर आराम से उसकी इच्छानुसार इलाज कैसे हो रहा है। केवल बीच-बीच में उसे

अस्पताल भेज दिया जाता है, चैकअप के लिए। उसे तो अस्पताल में किसी विशेषज्ञ की देख-रेख में होना चाहिए था। यह सब तो हमारी हिन्दी फ़िल्मों में संभव हो सकता है या सुधाकरजी के इस उपन्यास में।

अचला और जैकी बुर्जुआ वर्ग के युवती और युवक हैं। उन्हें सुधाकर जी ने अपराधी बनाकर चित्रित किया है, किन्तु यह बेहद कमज़ोर चित्रण बन पड़ा है। प्रत्येक अपराधी का अपना अलग मनोविज्ञान होता है। अचला अगर अपनी सास की हत्या करने को तैयार हो जाती है और जैकी मनोज को मार डालने की कोशिश करता है तो इसके पीछे उनका वर्गीय परिवेश, उनके संस्कार काम कर रहे होंगे। उनके परिवेश का कोई ऐसा बिन्दु होगा जो उनके दिमाग़ को अपराधजीवी बना डाले। उस बिन्दु को पकड़ने की सूक्ष्म दृष्टि सुधाकरजी के पास नहीं है। अचला के बारे में पढ़ते हुए मुझे बार-बार गोविन्द मिश्र का उपन्यास 'हुज़ूर दरबार' याद आता रहा। रनिवास की रानियों में यौन कुण्ठाएं और व्यभिचार क्यों फैलता था, इसकी गहराई तक गोविन्द मिश्र पहुंचे हैं। अचला को लेकर भी सुधाकरजी उसी दुर्बलता से घिर गए हैं जिससे सीमा के चित्रण में घिर गए हैं—पात्रों को उनके परिवेश से बिलकुल काटकर, उनके परिवेशगत संस्कारों का ध्यान न रखते हुए उन्हें अपने अनुसार चलाते रहना ताकि एक सुकुमार फ़िल्मी उपन्यास साहित्य को दे सकें।

यही सब सरस्वती देवी के साथ भी हुआ है। उन पर सौतेली मां का ठप्पा लग चुका है, इसलिए वे मनोज के प्रति क्रूर हैं। आज के पाठक के लिए केवल इतना जानना काफी नहीं है। वह जानना चाहेगा कि सरस्वती देवी की क्रूरता के पीछे कौन-से कारण काम करते हैं। क्या केवल उनका दुहाजू से ब्याह दिया जाना या अन्तर्जगत की कोई कुण्ठा? दूसरी ओर सीमा से सरस्वती देवी को बहुत स्नेह है। उपन्यासकार ने सरस्वती देवी के चरित्र के इस अंतर्विरोध को चित्रित करने की, उसका कारण खोजने की कोई आवश्यकता महसूस नहीं की।

उपन्यास के शिल्प में कहीं किसी तरह की नवीनता नहीं है। है तो सिर्फ किस्सागोई। भाषा-शैली बेहद बोझिल और उबाऊ है। बेहद पुराने संवाद जो न जाने कितनी बार सुने-सुनाए जा चुके हैं। भाषा में कहीं-कहीं अटपटापन बहुत है। 'बाढ़ के बवण्डर' को न उठने देना ही अच्छा है (पृ० ६६-६७) समाज का···विरोध कर नारी समाज के सम्मान की प्रतिष्ठा स्थापित की। (पृ० ३८)

यों सुकुमार बुद्धिवाले लोगों के लिए इस उपन्यास में अश्रुधर्मिता काफी है। ख़ासतौर पर सीमा के चरित्र को उपन्यासकार ने भरपूर आंसूतोड़क बनाने की कोशिश की है। किन्तु तरल भावुकता और पोले आदर्शवाद से अलग साहित्य के गम्भीर और प्रबुद्ध अध्येताओं को यह कथाकृति कुछ नहीं दे सकती, इतना मैं दावे के साथ कह सकती हूं।

पूर्व प्रेमचंदी कहानियों की याद

□ डॉ० रतनलाल शांत

श्री कमलकृष्ण गोस्वामी का यह कथा संकलन (एक कमरे का देश) उनके बड़े भाई श्री तिलकराज गोस्वामी ने उनका अल्पायु में ही निधन होने के बाद प्रकाशित कराया है। संकलन की दृष्टि स्पष्टत: श्री तिलकराज की है। संकलन में बीस कहानियां हैं, जिनको देखकर यह अनुमान करना ज़्यादा गलत नहीं होगा कि स्वयं लेखक इन्हें संकलित करते तो कुछ छोटी मोटी, संक्षिप्त कहानियां शायद पुस्तक में शामिल न करते। जैसे 'एक शुरुआत का अंत' 'ईमान' आदि। इनमें और दूसरी कद्रे लंबी कहानियों में अंतर केवल लंबाई का नहीं, बल्कि एप्रोच का है। समानता तो, खैर, यह है कि दोनों घटना बाहुल्य तले दबी हैं। लंबी कहानियों में एक कमज़ोर-सी कोशिश फिर भी पहचानी जा सकती है कहानी कला तक उठने की। छोटी कहानी इससे साफ मुक्त है। 'एक शुरुआत का अंत' में प्रकाशी 'अचेत-सी छटपटा रही है' क्योंकि उसने जो सोचा था कि 'एक छोटा-सा हंसता, मुस्कराता प्यारा-सा निरा वैयक्तिक संसार जिसमें अभावों के प्रवेश की कतई गुंजाइश ही नहीं थी', वहां 'आर्थिक विवशता ने उसके मन की जैसे हर खुशी पर पत्थर पटक दिया है।' और बस। इसलिए उसका यह सोचना कि 'नहीं, यह नहीं होना चाहिए था···'कहानी इसके अलावा और कुछ नहीं, और चार-पांच वाक्यों के बाद भी। अन्य ऐसी संक्षिप्त कहानियों में भी एक आह, एक कचोट का 'वर्णन' हुआ है, उसका उपसर्ग तथा प्रत्यय बना दिया गया है। उसे बताने या दिखलाने की कोई प्राथमिक कोशिश भी नहीं मिलती। लेखक घटनाएं या अनुभव संकलित करके उन्हें व्याकरण समान वाक्यों से जोड़कर कहानी रचने की आत्मतुष्टि में प्रसन्न दिखता है। वर्णन और बतलाने/दिखलाने के बीच का अन्तर समझना कहानीकार की आधारभूत आवश्यकता होती है। 'दया की आड़ में' इस समझ के अभाव का अच्छा उदाहरण है। दिल्ली एक बड़ा शहर है। इसमें एक भिखारी की 'मासूम जवानी' का शोषण किया मनोहर ने, उसे घर बुलाकर और नौकरी का वादा देकर। दया की आड़ में उस पर फिर बलात्कार करना चाहा पर वह भागी और भागती ही गई। इसलिए उस भिखारिन को आज भी आप सड़क पर देखेंगे। उम्मीद है कि आप भी दया की आड़ में वैसा ही नहीं करेंगे—कम-से-कम, यह भी लेखक इंगित नहीं करता। कह भी नहीं देता। इशारों या ध्वनि की कोई गुंजाइश किसी कहानी में नहीं। कोई घटना क्यों कहानी के लिए ली जाये, उसकी क्या सिग्निफिकेन्स है? या कि साधारण-सी घटनाओं को सिग्निफिकेन्स की हद तक कैसे विस्तारा जा सकता है यह लेखक के बूने के बाहर है। कहीं तो घटना का मात्र स्टेटमेण्ट है, जो इस प्रकार का हो सकता है—

किन्तु तभी—

उसी वर्ष ही—

आया—इतिहास के पृष्ठों में कभी न मिटने वाला दिन···तूफानी १५ अगस्त, १९४७ जब भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ,···भारत मां तब रो उठी थी—अब उसने देखा कि भाई-भाई का गला काट रहा है···भारत मां तब कराह उठी थी · भारत मां तब तड़प उठी थी।

तथ्यों के आकलन से दबी है कहानी 'कालचक्र' (अर्थात् 'भाग्य चक्र')। इस टाइप की अन्य कहानियां हैं 'खुशी के आंसू', 'एक अजनबी चेहरा' 'उस कस्बे में' आदि। संयोग और आकस्मिकता इन कहानियों का मुख्य कलात्मक आधार है जो पूर्व प्रेमचंदी कहानियों की याद दिलाता है। उन कहानियों में संयोग के पीछे फिर भी मानव संबंधों और संवेदना की संसक्ति का अनुभव होता था जो प्रस्तुत संकलन की कहानियों में नहीं है। □

आपकी बात

□

अंक—६९

डॉ० पुष्पपाल सिंह ने अपने आलेख में प्रेमचन्दोत्तर के कथा साहित्य पर मार्क्सवादी चिन्तन के प्रभाव का विवेचन-विश्लेषण किया है और भाषा के बदलते तेवर की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है। डॉ० अनिल गोयल ने अपने लेख में मेहरून्निसा परवेज़ के कथा साहित्य में आर्थिक दबावों के कारण व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में आए परिवर्तनों की छानबीन की है। डॉ० अशोक जेरथ ने अपने लेख में मनोविश्लेषणात्मक साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए उसके परिप्रेक्ष्य में तत्सम पर चेतना प्रवाह शैली का प्रभाव सिद्ध किया है। डॉ० वीणा गुप्ता ने अपने लेख में डोगरी लोकगीतों में उपस्थित नैतिक मूल्यों सम्बन्धी अवधारणाओं की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित किया है।

श्री शैलेन्द्र शैल की 'डेड़ इंच ऊपर' तथा 'गंध' शशि कुकरेजा की 'अवरोध' डॉ० आदर्श की 'बसयात्रा और एक दुविधा' कविताएं सशक्त एवं प्रभावशाली हैं।

कहानियों में 'मम्मी मेरे लिए क्या लाई हो' तथा 'गैरहाजिर' अच्छी कहानियां लगीं। 'गैरहाजिर' की भाषा का प्रवाह कथानक के अनुरूप है तथा वह अपनी धारा में पाठक को बहा ले जाता है।

—राजमणि तिवारी
निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नयी दिल्ली।

अंक—७०

शीराज़ा का आलोचना **विनाश** अंक मिला। यह आयोजन सफल रहता यदि हिन्दी के अधिकतर आत्मस्थापना और आलोचना में अंतर न कर सकने वाले अर्ध-सफल, साधारण और कुंठित लेखकों ने **समालोचना की असफलताएं** (हेनरी पियरे) को पढ़ा होता। आलोचकों का यह हाल है कि वे लेखकों को बिना बात खुश करने के लिए और अपने बड़े दायित्व से बचने के लिए आलोचना के विरुद्ध इसलिए वक्तव्य देते हैं ताकि उन्हें भला आलोचक मान

लिया जाए।

आलोचना के विषय में यही कहना है कि रचनात्मना लेखन की तरह उनके कई रूप, प्रकार और स्तर हैं। यह बात भी जानी मानी है पर लेखक आलोचना का अर्थ, उनकी रचनाओं पर लिखे लेख से मानते हैं। अन्य सब कुछ—सिद्धांत, प्रतिमानों की तलाश या निर्माण, साहित्य और समाज के रिश्तों की खोज, सांस्कृतिक प्रवाह के रूप में साहित्य को देखना-समझना और निस्संग मूल्य-अमूल्य, उत्कृष्टता और निकृष्टता पर अपनी समझ और सोचानुसार अभिमतों का प्रकटीकरण या value judgement—यह सब लेखकों के लिए आलोचना नहीं है।

जीवन के अन्य क्षेत्रों में मूल्यों, स्तर और मानवीयता की भयंकर गिरावट से अब साहित्य में भी "आलोचना वह जो मेरे इस्तेमाल में आए अन्यथा वह आलोचक नहीं है—की मनोदशा, रचनाकारों में बढ़ी है और उनमें से अनेक रचनाकार न होने पर भी यानी मीडियाकर—मंद बुद्धिवाले धूसररंग और धृष्ट स्वभाव और संस्कृति वाले होने पर भी यह चाहते हैं कि आलोचक सिर्फ उनकी सड़ी रचनाओं को उच्चकोटि का सिद्ध करने के लिए अपनी बौद्धिक चतुराई wit and arguements का जादू खड़ा कर सबसे मनवा लें कि अमुक लेखक लेखक न होने पर भी लेखक है।

यह आश्चर्य की बात है कि महत्त्वाकांक्षाजन्य मनो-विक्षेप, दिग्भ्रान्ति और धृष्टता की स्थिति में कोई यह कहने वाला नहीं है कि हे लेखक आपका बौद्धिक स्तर, अध्ययन क्षेत्र और सहृदयता-वृत्त क्यों इतना बौना, सीमित और विकृत है और आपकी वन्दना किस आधार पर होनी चाहिए?

अतः मैं सुझाव देता हूं कि अब आप इस तरह के आत्मग्रस्त लेखकों से आत्म-मूल्यांकन कराइए—शीराज़ा के अगले अंक में। आखिर लेखकों में अधिकतर प्राध्यापक हैं या पत्रकार तब वे अपने पर क्यों नहीं लिख सकते? आलोचक इस तरह के लेखकों के साहित्यिक कैरियरवाद को देख देख कर बहुत नाराज़ हैं या तटस्थ हैं।

शीराज़ा का यह अंक व्यर्थ गया है।

—डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

गगा-प्रयाग, ७-डी-२५, जवाहर नगर, जयपुर ३०२००४

० आलोचना की आलोचना में बेबाक और सही सवाल उठाए गए हैं। पढ़ कर अच्छा लगा।

इस बहस का एक और मुद्दा भी है। हममें से कितने लेखक ऐसे हैं जो अपनी सही समीक्षा सुन, पढ़ पाने का माद्दा रखते हैं? समीक्षा अगर सही होने के साथ साथ कटु भी है तो क्या लेखक-समीक्षक के सम्बन्ध मधुर बने रह सकते हैं। ऐसी स्थिति में मुझे लगता है, आज की आलोचना जो गलत दिशा की ओर मुड़ी और एक रूप में करप्ट हुई, तो उसमें हम लेखकों का भी हाथ है। कोई अपनी कमी, अपनी खामियां सुनना ही नहीं चाहता। दूसरों को अपने से बेहतर मानने को तैयार ही नहीं। ऐसी स्थिति में हमारा सुधार हो तो कैसे? बेशक ऐसे समीक्षकों का आना जरूरी है जो खामियां और कमियां दिखाएं तो गुणवत्ता की वाहवाही भी

दें। लेखक को सबसे बड़ा खतरा सस्ती पब्लिसिटी से है।

—डॉ० सूर्यबाला

द्वारा श्री आर० के० लाल, ग्लैक्सो लेबोरेटरीज, २ पोखरन रोड, थाना।

० आलोचना के विरुद्ध जो शोर इधर पिछले कुछ वर्षों से बढ़ता चला जा रहा है, क्या सचमुच वह आलोचना के विरुद्ध ही है। आज़ादी के बाद जो साहित्य हमारे यहां आया वह तत्काल किसी आलोचनात्मक लेखन की मांग करता भी था या नहीं? क्या यह सम्भव है कि सन् १९८४ की साहित्यधारा का आलोचनात्मक विवेचन तुरन्त अगला साल शुरू होते ही कर दिया जाये। फिर भी जिस देश में साहित्यकार तो कुकुरमुत्तों की तरह उग रहे हों पर पाठक संख्या मुट्ठी भर ही हो – और वह भी सिकुड़ती संख्या की गिरफ्त में चली जा रही है – ऐसे में आलोचना कर भी क्या सकती है। न तो आलोचक कुंठाओं के शिकार हैं और न ही असफल साहित्यकार। दरअसल जो आलोचक हैं भी वे चर्चा के बाहर हैं। सच तो यह है कि आलोचना अब एक ऐसी चरागाह बनती जा रही है जहां हर किस्म का जानवर एक साथ चरता नज़र आता है। समझा अब यह जाने लगा है कि विरोधी और विचारोत्तेजक वक्तव्यों से ही आलोचना का दायित्व पूरा हो जाता है जब कि सच इसके बहुत परे है। जिस देश में अभी से प्रेमचन्द की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न खड़े किये जाते हों और थोथे आक्रोश की हल्की रचनाओं को कालजयी करार दिया जाता हो वहां आलोचना क्या होगी?

महेश दर्पण

द्वारा : सारिका, १०-दरियागंज, नई दिल्ली ११०००२

० आलोचना/आलोचक के विरुद्ध एवं पक्ष में की गई यह समूची बातचीत अत्यंत विचारोत्तेजक है और बहस के लिए आमन्त्रित करती है। डॉ० चन्द्रकांत वांदिवड़ेकर, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, डॉ० रतन लाल शान्त, डॉ रामदरश मिश्र और डॉ० नरेन्द्र मोहन के आलेखों से समकालीन आलोचना के स्खालनों की तार्किक जानकारी मिलती है। इस अंक का संयोजन बताता है कि आलोचना/आलोचक किस हद तक विचलित एवं कर्मच्युत हो गए हैं। उन सारे अध्यापक समीक्षकों के लिए चेतावनी के कई अवसर सामने आए हैं जिनके कारण आलोचनों के विरुद्ध **शीराज़ा** का यह अंक निकालने की जरूरत आ पड़ी। डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय ने आलोचना की समर्थ वकालत की है। अज्ञेय, मृदुला गर्ग, गोविन्द मिश्र की टिप्पणियों से गुज़रना अपने आप में एक सबक, एक अनुभव है।

—डॉ० बालेन्दु शेखर तिवारी

हरिहर सिंह रोड, मोरादाबादी, रांची ८३४००८

० जहां विद्वान लेखकों ने बड़ी तत्परता से एक बात का समर्थन किया है कि आलोचक को निष्पक्ष और ईमानदार होना चाहिए, वर्तमान आलोचना में उभरी गुटबाज़ी का एक स्वर में विरोध किया जाना चाहिए वहीं प्रत्येक लेखक ने अपने तरीके से आलोचक के एक स्वरूप

की कल्पना भी प्रस्तुत की है।

गोविन्द मिश्र का प्राचीन भारतीय संस्कृति और संस्कार के प्रति मोह स्पष्ट और नैसर्गिक रूप से छलक उठा है। अज्ञेय जी वर्तमान सरकारी तथा गैर सरकारी प्रतिष्ठानों के ऐसे लटके सामने लाते हैं जो आलोचक की एक चीप इमिटेशन को उपभोक्ता मार्केट में प्रस्तुत करते हैं···बिलकुल सही। ट्रेड मार्क का लेबल ओढ़कर असल की जगह नकल को आगे करते हुए काम चलाने वाले···ऐसी स्थिति में सिर्फ प्रबुद्ध पाठक ही एक जानकार और तजुर्बेकार ग्राहक की तरह अपने को ठगने से बचा पायेगा अन्यथा उसे आज का आलोचक 'कोरा' करके छोड़ देगा।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि विषय विशेष की पक्की जानकारी के अभाव में गम्भीर आलोचना नहीं की जा सकती किन्तु यहां तो सभी नीम हकीम खतरा-ए-जान बने बैठे हैं। काम चलाऊ चालू आलोचना की शब्दावली को लोग ऐसे ही इस्तेमाल में ला रहे हैं जैसे कोई भी आदमी दवाई की दुकान खोलकर डाक्टर साहब बनने की धुन साध लेता है। नाम बड़ा चाहिए और बस।

जब तक भारतीय संस्कृति और साहित्य को इतिहास परक तथ्यों से उठाकर काल्पनिक सुखद अतीत (past glory) की दृष्टि से ही देखा जाता रहेगा तब तक वर्तमान का सही और सुन्दर विश्लेषण सम्भव नहीं हो सकेगा मैं गोविन्द जी से निवेदन करूंगा कि वह अतीत के प्रति मोह त्याग कर तर्कसंगत होकर उसे वर्तमान से जोड़कर देखें···उन्हें वर्तमान में भी आस्था मिलेगी उसके प्रति मोह बढ़ेगा। शायद यहां खालिस भारतीयता बची न मिले लेकिन भारतीयता में पगा एक नया समन्वित समाज जरूर मिलेगा···जो देखने में बहुत बिगड़ा हुआ लगता है किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं · और अगर है नहीं तो ऐसा लगता क्यों है? इसके कारण भी हमें अपने आसपास ही मौजूद मिलेंगे। इनका अपना एक इतिहास है और ऐतिहासिक विकास की एक प्रक्रिया भी।

रमेश कुन्तल मेघ की इन पंक्तियों का एक-एक शब्द संगत है कि—आलोचक के लिए साहित्य/कृति का अध्ययन या आलोचना के आधुनिक उपागमों को लागू करने में उनकी यथेष्ठ अर्हता तथा प्रवीणता लाजिमी है।

— महाराज कृष्ण शाह
मातंड, मट्टन, श्रीनगर (कश्मीर)

० अंक का मुख्य विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं रोचक है। एक लम्बे अंतराल के बाद किसी पत्रिका का ऐसा पठनीय अंक पढ़ने को मिला है। सही आलोचना तो रचना का अनुगमन करती है और उसकी विशेषताओं को भास्वर कर उसे आयुष्य भी देती है। यह दूसरी बात है कि हर युग में जल-ताड़न करने वाले कुछ आलोचक हुआ करते हैं और अब इस युग में पूर्वाग्रही आलोचकों की तादाद बढ़ गई है। ऐसे ही आलोचक हेनरी पियरे जैसे लेखकों को आलोचना की असफलताएं जैसी पुस्तक लिखने का अवसर दिया करते हैं। यों मेरा यह कहना नहीं है कि आलोचना को रचना का समनुमोदन (approbation) बन जाना चाहिए।

—डॉ० कुमार विमल
अध्यक्ष, बिहार लोक सेवा आयोग, पटना

० लम्बे लेखों की अपेक्षा मुझे अज्ञेय, मृदुला गर्ग आदि की टिप्पणियां बेहतर लगीं। कुल मिलाकर अंक बहुत ही बढ़िया बन पड़ा है।

—डॉ० हरिकृष्ण कौल
जैन्दार मोहल्ला, श्रीनगर (कश्मीर)

० आलोचना के लिबास में हिन्दी साहित्य में एक षड्यन्त्र, एक राजनीति, एक खतरनाक नासमझी उतर रही है। अनेकों उदाहरण गिनाए जा सकते हैं जब आलोचना के क्षेत्र में रचना विशेष या रचनाकार विशेष के विश्लेषण-विवेचन के दौरान, देश की विभिन्न राजनीतिक पार्टियों की तरह जो देश का कम और दल के हितों का अधिक ध्यान रखती हैं, उसे अनुकूल या प्रतिकूल विशेषणों से अलंकृत किया गया है। वस्तुतः रचनाकार आलोचना के विरुद्ध हो ही नहीं सकता है। क्योंकि प्रकाशित या प्रसारित होने पर उसकी रचना पाठक को कुरेदेगी, सोचने के लिए उत्तेजित करेगी अर्थात दूसरों को अपने विचार प्रकट करने को उकसाएगी। रचनाकार इन विचारों को जानने को उत्सुक रहता है। यह उसकी विवशता है। ऐसा होना भी चाहिए। इस तरह कोई भी रचना आलोचना को जन्म देती है। अब आलोचना को रचना की पहचान करने के लिए उन दबावों, संदर्भों, भाव-बिंदुओं, जीवनानुभवों अर्थात अंतर्वस्तु की तह में उतरकर रचना की बारीकियों को रेखांकित करने के दौरान रचना की कमजोरियों को उद्घाटित करना है। ऐसा जब ईमानदारी से नहीं होता है तभी और शायद केवल तभी आलोचना के विरुद्ध वाली यह मानसिकता पनपने लगती है जो अस्वाभाविक नहीं। गोबिंद मिश्र के अनुसार यह आलोचना के विरुद्ध नहीं समकालीन आलोचना के विरुद्ध है—जो सही है। क्योंकि हम अपने समय की आलोचना के दोषों के विरोध की बात करते हैं, न कि सम्पूर्ण आलोचना इतिहास की। समकालीन आलोचना सही माहौल, जिसे डॉ० चंद्रकान्त बांदिवडेकर सांस्कृतिक माहौल कहते हैं, का निर्माण करने में शायद ही सहायक सिद्ध हो रही है ऐसी स्थिति वर्तमान में ही नहीं भविष्य के लिए भी घातक साबित हो सकती है।

यहां यह ध्यातव्य है कि आलोचना के अभाव में रचनाकार को निष्पक्ष दो टूक, विवेकपूर्ण और तटस्थ प्रतिक्रिया देगा कौन? आज कुछ लोग समकालीन आलोचना के विरोध में होकर आलोचक या समूची आलोचना विधा के विरोध में खड़े हैं तो मैं यह कहने की धृष्टता करूंगा कि वे लोग अपनी रचनाओं की कमजोरियों पर पर्दा डालने का स्थायी प्रबन्ध करना चाहते हैं। यदि निष्पक्ष सम्पादकीय चयन में मेरी कविता किसी पत्रिका में प्रकाशनार्थ स्वीकृत नहीं होती है तो क्या मैं यह कहूं कि अब पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादक नहीं होने चाहिए। अमुक रचना लौटाने में सम्पादक की मजबूरी ही नहीं मेरी रचना कमजोर भी हो सकती है ऐसा मुझे स्वीकार करना चाहिए। यह बात निष्पक्ष, विवेकपूर्ण, तटस्थ एवं दो टूक आलोचना पर खरी उतरती है। रचनाकारों को हाथ धोकर आलोचकों के पीछे लगने से बेहतर यह भी है कि वे अपने भीतर भी झांकें।

—डॉ० अग्निशेखर
१६१-सबूबाला, श्रीनगर १६०००१

० आज का लेखक समकालीन आलोचना के विरुद्ध आवाज उठा रहा है। समकालीन आलोचना की निरर्थकता सिद्ध कर रहा है – ऐसा क्यों ? वर्तमान लेखक आलोचक के प्रति इतना असहिष्णु तथा कटु क्यों हो गया है ?—इन प्रश्नों के उत्तर डॉ० चन्द्रकांत बांदिवड़ेकर, डॉ० रमेल कुन्तल मेघ, डॉ० सुरेश धींगड़ा, डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय, डॉ० रामदरश मिश्र तथा डॉ० नरेन्द्र मोहन जैसे विद्वान लेखकों ने सराहनीय ढंग से विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किए हैं।

—जगदीश प्रसाद द्विवेदी
पटेल चौक, जम्मू

० शीराज़ा (७०) में आलोचना के विरुद्ध (उठाई जाने वाली आवाजों का) जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है उसने समस्या के कई एक पहलुओं को अवश्य छू लिया है। पर प्राय: प्रतिक्रियाएं स्वयं भी अन्तर्विरोध तथा एकांगिता, अधूरेपन या उथलेपन का शिकार होकर रह गई हैं, और कहीं-कहीं चौंका देने वाली बात कहने की ललक में छिछली रहने पर मजबूर भी जान पड़ती हैं।

फिर भी कई वज़नदार बातें इस अंक में मुखरित हुई हैं। जैसे—पुरोवाकीय विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है; अपने-अपने चरागाहों को अपनी-अपनी भेड़ों से भर देने की प्रकृति का प्रतिरोध किया गया है, साहित्यिक उपलब्धियों के बदले पीढ़ियों का इतिहास लिखने की लटक की ओर संकेत हुआ है, मूलपाठ के साथ उपपाठ तथा अन्यपाठ की उद्भावना करते हुए (आज की) आलोचना को साहित्य की भाग्प्रकृति से नितांत पृथक जताया गया है; इस बात पर जोर दिया गया है कि आलोचना सामाजिक यथार्थ से जुड़ी हुई सौदर्भ दृष्टि से सम्पन्न ···समकालीन सामाजिक जीवन के सघन यथार्थ के दबाव से पैदा हुई हो और मानवीय हो; तथा हस्तक्षेप के व्याकरण से अनभिज्ञ न रहने की जरूरत को उभारा गया है।

'समीक्षकों के पूर्वाग्रहों और हठधर्मी को सहने की अपेक्षा कवि को अपना समीक्षक आप' बनने की बात भी कही गई है; पर कवि की अपनी हठधर्मी भी हो सकती है जो उसकी समीक्षकता को कुत्सित कर सकती है। इस बारे में मौन बरता गया है। ऐसे ही जब कवि-समीक्षक उद्घोष करते हैं कि नहीं, मैं आलोचना के विरुद्ध नहीं हूं लेकिन आलोचना **आज है** कहां (पृ० ३२) तो पूछा जा सकता है कि आज नहीं तो कल थी भला ? और आप जो आलोचना लिखते रहे हैं, वह भी **नहीं**।

एक ही सांस में कही गई परस्पर विरोधी बातों के भी दो एक नमूने लीजिए : यह कहना कठिन है कि आज की आलोचना आज की सर्जनात्मकता को कोई सहयोग दे रही है।···(पृ० ६५)···इस दृष्टि और प्रकृति के कुछ **नये** आलोचक निश्चय ही हमारे बीच हैं··· और भी कई आलोचकों के नाम लिये जा सकते हैं। (पृ० ६७) या फिर : 'ओमप्रकाश की कविता कविता लगती है, सर्वत्र लगती है।···लेकिन इन कविताओं में आम आदमी प्रत्यक्ष नहीं होता···यह दुनिया प्रतीकों के माध्यम से छनकर आती है। (पृ० ७७-७८)

बात यों है कि आलोचना की चर्चा छिड़े तो परिचय, अध्ययन, मूल्यांकन, समीक्षण, आलोचना और समालोचन : (समग्र आलोचन) जैसे कई घेरों या आमामों के लेखन व्यापार की गुंजाइश रहेगी ही। आलोचना किसी एक कृति विशेष की भी हो सकती है। लेखक समुदाय की भी प्रवृत्ति-विशेष की भी; कालविशेष की भी; व्यक्तिगत भी; तुलनात्मक भी। तो इस तरह

का बहुत कुछ लेखन आज भी हमारे सामने आता ही रहता है जिसे आलोचना मानने से इनकार करना हठधर्मी होगी। बदलते परिप्रेक्ष्य में रचना के साथ-साथ आलोचना के आकार-प्रकार को भी बदलने के अवकाश मिलते ही रहेंगे।

रचना यदि मनोमय सर्जना की संभावना का शब्द गुंफित आविष्करण है तो आलोचना को इस आविष्करण की क्षमता के विवेचन का सक्षम शब्दांकन होना ही पड़ेगा। दोनों का आपसी रिश्ता बना ही रहेगा। प्रतिबद्धता की बात भी इसी संदर्भ में सार्थक ठहरती है। नहीं तो प्रतिबुद्धता या प्रबुद्धता के बिना प्रतिबद्धता अंधविश्वास का मात्र पर्याय बनकर रह जाये। पर आलोचना लोचनहीन हो नहीं सकती। अनालोचना या कदालोचना की बात अलग ठहरी। 'गढ़े खोदो और भरो' तथा 'अंत्येष्टि' के पक्षधर इसी पर टूट पड़ें तो उनका व्यंग्य अधिक साभिप्राय होकर करारी चोट करे। नहीं तो अंधाधुंध मार में अवांछनीय से ज्यादा वांछनीय की ही क्षति हो सकती है।

—प्रो० पृथ्वीनाथ पुष्प
३३-गोगजी बाग, श्रीनगर

रचना और रचनाकार से
सीधे जुड़ाव के लिए
अपनी प्रतिक्रिया को
अपने तक सीमित न रखें



'आपकी बात' स्तम्भ का प्रयोग करें



द्विमासिक **शीराज़ा** हिन्दी

72

वर्ष २० / अंक ४

(अक्तूबर-नवम्बर १९८४)

•

प्रमुख सम्पादक

मुहम्मद यूसुफ़ टेंग

•

सम्पादक

रमेश मेहता

•

पत्र-व्यवहार

सम्पादक

शीराज़ा हिन्दी

जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, नहर मार्ग, जम्मू।

फोन : ५०४०

•

मुद्रक :
रूपाभ प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-३२

•

यह अंक : दो रुपये

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

अनुक्रम

लेख

कविताएं

कहानियां

स्थायी स्तम्भ